रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)

रजत जयन्ती वर्ष

(जनवरी १९६३–दिसम्बर १९८७)

वर्ष : २५ अंक : २
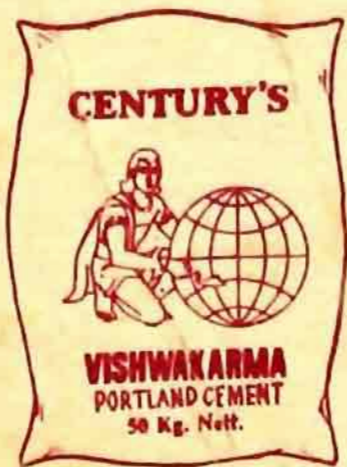
निर्माता- सेन्चुरी सीमेन्ट

पो. आ. बैकुण्ठ - 493116 जिला: रायपुर (म.प्र.)

टेलेक्स: 0775-225 CCBIN ★ टेलीग्राम: 'CENCEMENT'

फोन: 23, 24, 25, 27, 28, 30, 34, 39.

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-मई-जून
* १९८७ *

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर–४९२००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

आवरण चित्र-परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर–४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २५] अप्रैल-मई-जून ★ १९८७ ★ [अंक २

महान् आश्चर्य !

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ।।

—वृद्धावस्था बाघिन की तरह सामने खड़ी दहाड़ रही है, अनेक रोग इस शरीर पर शत्रुओं की तरह चोटें कर रहे हैं, आयु भी फूटे घड़े से रिसनेवाले जल की तरह प्रतिदिन घटती जा रही है; फिर भी मनुष्य ऐसे कर्म करते हैं, जो उनके लिए सर्वथा अहितकर हैं । क्या यह बड़े आश्चर्य की बात नहीं है ?

—भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, ३८

अग्नि-मंत्र

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

१९२१ पश्चिम २१वीं स्ट्रीट
लास एंजिलिस
१७ जून, १९००

प्रिय मेरी,

यह सही है कि मैं पहले से काफी अच्छा हूँ, पर अभी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हुआ हूँ। दु:ख भोगनेवाले हर आदमी की मन:स्थिति एक-जैसी होती है। न तो वह गैस है, न ही अन्य कोई वस्तु '

काली-पूजा किसी भी धर्म का आवश्यक साधन नहीं है। धर्म के विषय में जितना कुछ भी जानने योग्य है, उपनिषद् उसकी शिक्षा देते हैं। काली-पूजा मेरी अपनी विशिष्ट 'सनक' है। तुमने कभी भी उसके विषय में मुझे प्रवचन करते या भारत में उसकी शिक्षा देते हुए नहीं सुना होगा। मैं केवल उन्हीं चीजों की शिक्षा देता हूं, जो विश्व-मानवता के लिए हितकर हैं। यदि ऐसी कोई विचित्र विधि है, जो केवल मुझी पर लागू होती है, तो मैं उसे गुप्त रखता हूं, और यहीं सब बात खत्म हो जाती है। मैं तुम्हें नहीं बताऊंगा कि काली-पूजा क्या है, क्योंकि कभी मैंने इसकी शिक्षा किसी को नहीं दी।

यदि तुम यह सोचती हो कि हिन्दू लोग बोस-परिवार*

---

* विश्वविख्यात वनस्पतिविज्ञानी श्री एवं श्रीमती जगदीश चन्द्र बोस।

का बहिष्कार करते हैं, तो तुम एकदम भ्रम में हो। अंगरेज शासक उन्हें एक किनारे धकेल देना चाहते हैं। वास्तव में भारतीय जाति में वे उस प्रकार का विकास देखना पसन्द ही नहीं करते। वे उनका रहना यहाँ मुहाल किये दे रहे हैं, इसी से वे बाहर जाना चाहते हैं।

'एंग्लिसाइज्ड' (आंग्लीकृत) का मतलब उन लोगो से है, जो अपने रहन-सहन तथा आचरण से यह प्रदर्शित करते हैं कि वे हमारे जैसे निर्धन पुराने ढंग के हिन्दुओं पर शर्म का अनुभव करते हैं। मैं अपनी जाति या जन्म अथवा जातीयता से शर्मिन्दा नहीं हूँ। मुझे आश्चर्य नहीं है कि इस प्रकार के लोगों को हिन्दू पसन्द नहीं करते।

हमारे धर्म में, जो उपनिषदों के सिद्धान्तों पर आधारित है, अनुष्ठानों तथा प्रतीकों के लिए कोई स्थान नहीं है। बहुत से लोग ऐसा सोचते हैं कि अनुष्ठानों के सम्पन्न करने से धर्म का साक्षात्कार करने में सहायता मिलती है। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

धर्म वह है जो धर्मग्रन्थों या उपदेष्टाओं अथवा मसीहा या उद्धारक पर निर्भर नहीं रहता और जो हमें इस जीवन में या किसी अन्य जीवन में दूसरों पर आश्रित नहीं बनाता। इस अर्थ में उपनिषदों का अद्वैतवाद ही एकमात्र धर्म है। लेकिन धर्मग्रन्थों, मसीहों, अनुष्ठानों आदि का अपना स्थान है। वे बहुतों की सहायता कर सकते हैं, जैसे कि काली-पूजा मेरे ऐहिक कार्यों में मेरी सहायता करती है। उन सबका स्वागत है।

पर गुरु का भाव एक दूसरी बात है। यह आत्मिक शक्ति तथा ज्ञान को सम्प्रेषित करनेवाले तथा उसे ग्रहण करनेवाले के बीच का सम्बन्ध है। शारीरिक तथा मान-

सिक दृष्टि से प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक विशेष प्रकार (type) होता है। प्रत्येक दूसरों से निरन्तर विचार ग्रहण करते हुए, उन्हें अपने उसी 'प्रकार' के अनुरूप बना रहा है, अर्थात् अपनी जातीयता के आधार पर। इन 'प्रकारों' के विनष्ट होने का अभी समय नहीं आया है। सब प्रकार की शिक्षा चाहे उसका कोई भी स्रोत हो, प्रत्येक देश के आदर्शों के अनुकूल है, सिर्फ उन्हें अपनी राष्ट्रीयता के रंग में रँग लेना आवश्यक है, यानी उस प्रकार की शेष अभिव्यक्ति के साथ उनका तादात्म्य होना आवश्यक है।

त्याग प्रत्येक जाति का सदैव आदर्श रहा है; दूसरी जातियों को केवल इसका ज्ञान नहीं है, यद्यपि प्रकृति द्वारा अवचेतन रूप से वे इसका पालन करने को बाध्य हैं। युग युग तक एक उद्देश्य निश्चित रूप से चलता रहता है। और वह पृथ्वी तथा सूर्य के नाश के साथ ही समाप्त होगा। और वास्तव में विविध विश्व निरन्तर प्रगति कर रहे हैं! और फिर भी अभी तक असीम विश्वों में से कोई इतना विकास नहीं कर सका कि हमसे सम्बन्ध स्थापित कर सके! सब बकवास! उनमें भी प्राणी जन्मते हैं, हमारी जैसी प्रक्रियाएँ वहाँ भी घटित होती हैं और हमारे समान वे भी मरते हैं! उद्देश्य का विस्तार! बच्चे हैं! ओ बच्चो, स्वप्नलोक में ही रहो!

अस्तु, अब अपने बारे में। हैरियट से तुम आग्रह करो कि वह मुझे कुछ डालर प्रतिमाह देती रहे। ऐसा ही करने को मैं दूसरे मित्रों से भी कहूँगा। यदि मैं सफल हो गया, तो भारत को चल दूंगा। जीविका के लिए इस मंच-कार्य से मैं बेतरह थक गया हूँ। इसमें अब मुझे कुछ भी आनन्द नहीं आता। मैं अवकाश लेकर, यदि कर सका

तो, कुछ विद्वत्तापूर्ण लेखन-कार्य करना चाहता हूँ ।

शिकागो में शीघ्र ही आ रहा हूँ, आशा है दो-चार दिनों के भीतर ही वहाँ पहुँच जाऊँगा । यह बताओ कि क्या श्रीमती एडम्स मेरे लिए किसी कक्षा का प्रबन्ध नहीं कर सकेंगी, जिसकी आमदनी से मैं अपने वापस जाने का भाड़ा चुका सकूँ ?

मैं विभिन्न स्थानों में कोशिश करूँगा । मुझमें इतना आशावाद आ गया है, मेरी, कि यदि मेरे पंख होते तो मैं हिमालय उड़ जाता ।

अपने सारे जीवन में, मेरी, मैंने इस संसार के लिए काम किया, पर यह मेरे शरीर की आध सेर बोटी लिये बिना मुझे रोटी का एक टुकड़ा तक नहीं देता ।

यदि मुझे रोटी का एक टुकड़ा रोज मिल जाय, तो मैं बिलकुल अवकाश ले लूँ । किन्तु यह असम्भव है । यही शायद उस दृश्य का बढ़ता हुआ विस्तार है, जो, जैसे-जैसे मेरी उम्र बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे सब घृणित आन्तरिकताओं का उद्घाटन करता जा रहा है ।

चिर प्रभुपदाश्रित,
विवेकानन्द

पुनश्च—यदि कभी भी किसी को सांसारिक वस्तुओं की व्यर्थता का बोध हुआ है, तो इस समय मुझे हो चुका है । यह संसार घृण्य, जघन्य मुर्दे के समान है । जो इसकी मदद करने की सोचता है, वह मूर्ख है । पर हमें अच्छा या बुरा करते हुए ही अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न करना होगा । मुझे आशा है कि मैंने ऐसा किया है । प्रभु मुझे उस मुक्ति की ओर ले चलें । एवमस्तु । मैंने भारत या किसी भी देश पर विचार करना त्याग दिया है । अब मैं स्वार्थी बन गया

हूँ, अपना उद्धार करना चाहता हूँ !

"जिसने ब्रह्मा को वेद प्रकट किये, जो प्रत्येक के हृदय में व्यक्त है, बन्धन से मुक्ति पाने की आशा से मैं उसी की शरण लेता हूँ।"

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

सोलहवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के वरिष्ठ उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके उन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

बद्धजीव

दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में श्रीयुत विजयकृष्ण गोस्वामी इत्यादि भक्तों के साथ ठाकुर का अविराम भगवत्-प्रसंग चल रहा है। ठाकुर जीवों के चार प्रकार के लक्षण बतलाते हैं—बद्धजीव, मुमुक्षुजीव, मुक्तजीव और नित्यजीव।

बद्धजीवों को तो हम चारों ओर देख ही रहे हैं। ठाकुर उपमा देते हैं, जैसे जाल के भीतर पड़ी हुई मछली कीचड़ में मुँह गड़ाकर पड़ी रहती है। ऐसा लगता है कि इस प्रकार वह अपने को सुरक्षित समझती है। वह नहीं जानती कि मछुआरा उसे खींच लेगा और वह मारी जाएगी। वह एक अवश्यम्भावी घटना के प्रति सचेत नहीं है। यह 'बद्धजीव' का लक्षण हुआ। इसे 'महाभारत' में एक आश्चर्यजनक बात कहा गया है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् ।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ।।

प्रतिदिन मनुष्य मृत्यु के मुख का ग्रास बन रहा है, परन्तु फिर भी उसे होश नहीं है। वह सोचता है, जिसे मरना है वही मरेगा, मैं तो ठीक बना रहूँगा। बद्धजीव को बन्धन के प्रति कोई होश नहीं रहता। वह कसकर बँधा हुआ है, इसका उसे ख्याल नहीं। इसीलिए मनुष्य योजना बनाता है,परिकल्पना करता है—'यह करूँगा, वह करूँगा', लेकिन यह नहीं सोचता कि आज ही यदि बुलावा आ जाय तो सब छोड़कर चले जाना होगा। ठाकुर बतला रहे हैं, हृदय ने दक्षिणेश्वर में एक छोटे से बछड़े को घास खिलाने के लिए खूंटे से बाँध रखा था। ठाकुर के पूछने पर उसने कहा कि बछड़ा बड़ा होने पर उसे गाँव भेज दूंगा और हल चलाऊँगा। ठाकुर तो सुनकर मूर्छित हो गये। इतना छोटा-सा तो बछड़ा, वह कब बड़ा होगा, उसके बाद उसे इतनी दूर शिहड़ गाँव भेजेगा और वहाँ उससे हल चलाएगा!

हम लोग इससे भी बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ करते हैं और सोचते हैं कि हम चिरकाल तक जीवित रहकर उन कल्पनाओं को साकार कर उनके फल का भोग करेंगे। लेकिन ध्यान रखें, यहाँ राष्ट्रीय परिकल्पना की बात मैं नहीं कर रहा हूँ, व्यक्तिगत कल्पना की ही बात कर रहा हूँ। यहाँ प्रश्न उठता है, तब फिर क्या हम योजना न बनाएँ? लेकिन ठाकुर ऐसा नहीं कहते। योजना हम अवश्य बनाएँ, लेकिन उसके साथ-साथ हमें यह भी विचार करना होगा कि जितना हम कर सकेंगे करेंगे, और उसके पश्चात् हमारे पीछे जो आएँगे, वे लोग करेंगे। यहाँ से चले जाने के लिए हमें सदा तैयार रहना होगा। इस प्रकार विचार-

पूर्वक यदि योजना बनायी जाय तो दोष नहीं है। पर जब तक निःस्वार्थ भाव नहीं आता, तब तक ऐसा विचार भी नहीं आता। हमारा मन यदि स्वार्थ से भरा रहे तो ऐसी योजना हमारे मस्तिष्क में कभी आएगी ही नहीं जिसका फल-भोग हम न करें। बद्धजीव के मस्तिष्क में ऐसा विचार कभी नहीं आता कि मैं दो दिन के लिए इस दुनिया में आया हूँ और जिस क्षण बुलावा आएगा, सब छोड़कर चले जाना होगा। उल्टे उसके व्यवहार को देखकर तो ऐसा लगता है कि वह ऐसा पक्का बन्दोबस्त करके इस दुनिया में आया है कि उसे कभी भी यहाँ से जाना नहीं पड़े।

मुमुक्षुजीव और मुक्तजीव

मुमुक्षुजीव बन्धन के सम्बन्ध में सचेत रहता है; उसे बन्धन का अनुभव है, बन्धन की पीड़ा है, इसीलिए उस बन्धन से वह मुक्ति पाने की चेष्टा करता है। लेकिन ऐसी बात नहीं कि मुक्ति के लिए सचेष्ट सभी लोग मुक्त हो जाते हों। ठाकुर उपमा देते हुए कहते हैं कि जो मछलियाँ जाल से छूटने के लिए छटपटाती हैं, वे सभी जाल से बाहर नहीं जा पातीं। उनमें से दो-चार ही छपाक् से कूदकर भागती हैं। ऐसे ही जो महामाया के जाल से किसी तरह निकल आते हैं, वे मुक्तजीव हैं।

नित्य जीव

इसके अतिरिक्त और भी एक प्रकार के जीव की बात ठाकुर कहते थे, जिसे 'नित्यजीव' कहा जाता है। सयानी मछली जिस तरह कभी भी जाल में नहीं फँसती, ये भी उसी प्रकार महामाया के बन्धन में कभी नहीं बँधते। ये भी सब लोगों की तरह संसार में आते हैं, लेकिन बुद्धि के थोड़ा विकसित होते ही समझ लेते हैं कि वे इस दुनिया

के जीव नहीं हैं। ठाकुर ने इस नित्यजीव की कोटि में अपने लीला-सहचरों को रखा था, जिनका इस संसार में आगमन किसी वासना के फलस्वरूप नहीं होता बल्कि जो अवतार आदि के लीला-सहचर होकर लोक-कल्याण के लिए आते हैं। ठाकुर यहाँ नारद का दृष्टान्त देते हैं। नारद के जीवन में बचपन से ही प्रबल वैराग्य देखा जाता है— जब वे पाँच वर्ष के थे तब से ही। संसार में एकमात्र बन्धन थी माँ, जो ब्राह्मणों के घर दासी का काम करके जीवन-निर्वाह करती थी, अपने बेटे का पालन-पोषण करती थी। उस माँ की जब सर्पदंश से मृत्यु हो गयी तब नारद की उम्र लगभग पाँच वर्ष की थी। बहिरंग दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है मानो यह उस बालक के दुर्भाग्य का सूचक है, लेकिन नारद कहते हैं कि उनका जो थोड़ा-सा बन्धन था, वह भी माँ की मृत्यु से कट गया, और वे साधना के लिए निकल पड़े। घूमते-फिरते बहुत दूर पहुँचकर वे एक वृक्ष के नीचे ध्यान में बैठे। वे तो ऐसे मन को लेकर ध्यान करने बैठे थे, जो कभी भी संसार में लिप्त नहीं हुआ था। ध्यान करते-करते उन्हें भगवान् के साक्षात् दर्शन मिले। पर कुछ क्षण बाद भगवान् अन्तर्धान हो गये। इससे वे अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगे, और कहने लगे, "भगवन्, तुम दर्शन देकर फिर अन्तर्धान क्यों हो गये?" तब उन्हें दैव-वाणी सुनाई पड़ी—"नारद, तुमने यह जो एक बार दर्शन पाया, वही तुम्हारे इस जीवन के लिए यथेष्ट है। मेरा दर्शन तुम अब और नहीं पाओगे, लेकिन मेरा यह एक दर्शन ही तुम्हारे समस्त जीवन को भरपूर बनाकर रखेगा। अब तुम मेरे गुणों का गान करते हुए सारी दुनिया में विचरण करो।" कहना न होगा कि इस प्रकार की भक्ति

की शिक्षा देने के लिए ही नारद को शरीर-धारण करना पड़ा था। एकमात्र लोक-कल्याण को छोड़ नारद का संसार में आने का अन्य कोई उद्देश्य नहीं था। यह हुआ नित्य-जीव का लक्षण।

बद्धजीव तो संसार में सबसे सुलभ हैं, चारों ओर वे ही दिखाई देते हैं। मुमुक्षुजीव अपेक्षाकृत बिरले हैं, पर खोजने पर कहीं न कहीं दिखाई पड़ जाते हैं, किन्तु मुक्तजीव को देख पाना कठिन है। नित्यजीव दुर्लभ ही नहीं अपितु उन्हें देखकर भी लोग उन्हें पहचान नहीं पाते।

बद्धजीव का लक्षण

इसके पश्चात् बद्धजीव का वर्णन करते हुए ठाकुर हमारे सामने एक भयावह चित्र खींच देते हैं। कहते हैं, "ऊँट कँटीली घास खाना बड़ा पसन्द करता है। लेकिन वह जितना ही खाता है, उतना ही उसके मुंह से धर-धर रक्त बहता रहता है फिर भी वह कँटीली घास खाना नहीं छोड़ता।" हम देखते हैं कि इस संसार में मनुष्यों के दुःखों का अन्त नहीं है। जो बाहर से हमें सुखी दिखाई देते हैं, उनके भीतर पैठकर यदि देखा जाय तो हम पाएँगे कि वे दुःख से भरे हैं। भगवान् गीता में कहते हैं—'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्'—इस अनित्य जगत् में दुःखों से छुटकारा नहीं है, इसलिए अनित्य वस्तु के प्रति आसक्ति का त्याग कर मेरा भजन करो। मुख से रक्त बह रहा है, फिर भी जैसे ऊँट कँटीली घास खाना नहीं छोड़ता, वैसे ही मनुष्य भी संसार में इतना दुःख पाते हुए भी संसार में ही डूबे रहना चाहता है। जब कष्ट पाता है तब हो सकता है कि थोड़ी देर के लिए उसे संसार अच्छा न लगे और वह उसे छोड़ देने की इच्छा करे, पर बन्धन

से वह इस प्रकार जकड़ा हुआ है कि किसी प्रकार छोड़ नहीं पाता। केशव सेन के एक सम्बन्धी को, जिनकी आयु लगभग पचास वर्ष की रही होगी, ताश खेलते देख ठाकुर अवाक् रह गये, पर हम लोग यह दृश्य देखकर अवाक् नहीं होते, क्योंकि ऐसा तो हम हमेशा ही अपने चारों ओर देखते हैं। यह बद्धजीव की अवस्था है, जो उस मछुआरिन के समान है जो मछली की गन्ध के बिना नींद नहीं ले पाती और फूलों की सुगन्ध में असुविधा का अनभव करती है।

बद्धजीव की मुक्ति के उपाय

प्रश्न उठता है कि बद्धजीव के मन की अवस्था कैसी हो जिससे उसकी मुक्ति हो सके? ठाकुर इसके उत्तर में कहते हैं, "ईश्वर की कृपा से तीव्र वैराग्य होने पर इस काम-कांचन से आसक्ति दूर हो सकती है। तीव्र वैराग्य किसे कहते हैं? 'हो रहा है, हो जाएगा, भगवान् का नाम लेते रहो'—यह सब मन्द वैराग्य है। जिन्हें तीव्र वैराग्य होता है, उनके मन-प्राण भगवान् के लिए व्याकुल हो उठते हैं, जैसे माँ के प्राण अपने बच्चे के लिए व्याकुल होते हैं।" इस मन्द वैराग्य के कारण बहुत से साधक सिद्धिलाभ से वंचित रहते हैं। साधक पहले-पहल खूब जमकर शुरू करते हैं। सोचते हैं कि दो दिन में ही भगवान् को पा लेंगे। लेकिन जब देखते हैं कि दिन पर दिन मन के साथ कठोर संग्राम करने पर भी वे जीत नहीं पा रहे हैं, तब उन्हें लगता है कि भगवान् को पाना उतना सरल नहीं है, जितना उन्होंने समझ रखा था। और ऐसा बोध उनमें हताशा पैदा करता है। यह हताशा साधक के जीवन में बड़ी दुश्मन है। 'भगवान् को प्राप्त नहीं कर पा रहा हूँ' ऐसी वेदना का अनुभव करना अच्छा है, लेकिन खराबी तब आती है जब

इस दुःख की अनुभूति से हताशा जन्म ले लेती है और साधक के मनोबल को तोड़कर उसकी साधना को खण्डित कर देती है। शास्त्र में इस स्थिति को 'प्रमाद-आलस्य' के नाम से पुकारा गया है। प्रमाद का तात्पर्य है अनवधानता अर्थात् लक्ष्य के सम्बन्ध में अचेतनता, और यदि चेतना हो भी तो मार्ग में ऐसा आलस्य उपस्थित होता है कि वह और आगे नहीं बढ़ पाता। शास्त्रों ने व्यर्थ ही यह बात नहीं कही कि 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'—तेज छुरे की धार पर चलना जैसा कठिन है, वैसा ही कठिन है ईश्वर को पाने का मार्ग। साधारण मनुष्य के लिए यह मानो असम्भव है। लेकिन इस असम्भव को ही सम्भव करना होगा, क्योंकि इसे छोड़कर ईश्वर को पाने का कोई अन्य मार्ग नहीं है। पर मनुष्य स्वभाव से ही ऐसा है कि वह सर्वदा सबसे सहज पथ की खोज में रहता है, और इस प्रकार खोजने पर जो पथ उसे सबसे सरल मालूम होता है उसी से चलने लगता है। चलते-चलते उसे समझ में आ जाता है कि मार्ग बिलकुल ही सरल नहीं है। कई बार मनुष्य को प्रोत्साहित करने के लिए कहा जाता है, "यह करो तो हो जाएगा। एक बार पुकार-कर तो देखो, इसी से हो जाएगा।" लेकिन एक बार क्यों, दस बार, हजार बार गला फाड़कर पुकारने से भी जब उसे काम बनता हुआ नहीं दिखाई देता, तब उसमें सन्देह पैदा होता है। पर एक ओर जैसे सन्देह पैदा होता है, वैसे ही दूसरी ओर एक प्रकार से आकर्षण का भी वह अनुभव करता है। तब साधक का चित्त इस आकर्षण और सन्देह के झूले में झूलने लगता है। इस सम्बन्ध में झूठी सान्त्वना देने का कोई मतलब नहीं कि ऐसा एक सहज पथ है, जिससे

चलकर भगवान् को अनायास पाया जा सकता है, क्योंकि ऐसा कोई पथ है ही नहीं। यहाँ पर गिरीशबाबू का ही दृष्टान्त लेते हैं। उनसे ठाकुर ने कहा, "देखो, और कुछ न कर सको तो दिन में दो बार उनका नाम लेना।" दिन में दो बार तो दूर, एक बार नाम लेने में भी गिरीशबाबू को राजी न देख ठाकुर भावावस्था में बोले, "यह भी न कर सको तो मुझे बकलमा दे दो," अर्थात् अपना भार मुझे सौंप दो। गिरीशबाबू भगवान् को पाने का इतना सहज पथ पाकर निश्चिन्त हो गये। लेकिन इसके पश्चात् एक दिन प्रसंग उठने पर जब गिरीशबाबू ने कहा कि "मुझे अमुक जगह जाना है, अमुक काम करना है," तब ठाकुर बोले, "यह क्या जी, तुमने तो मुझे बकलमा दे दिया है न? फिर यह करूँगा, वह करूँगा, ऐसा क्यों कहते हो?" तब गिरीशबाबू समझे कि खण्ड-खण्ड में, टुकड़े-टुकड़े में भार देना नहीं बनता। जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने समझा था कि बकलमा देना कितनी कठिन बात है। वे कहते, "हर पग रखते हुए, हर साँस लेते हुए यह देखना चाहिए कि ईश्वर को भार सौंपकर उसकी शक्ति से पग रख रहा हूँ, साँस ले रहा हूँ अथवा इस कुलक्षण अहंकार की शक्ति से।" तब गिरीशबाबू ने सोचा कि इससे तो रोज एक हजार बार नाम जपने की बात भी स्वीकार कर लेना अच्छा था।

नाम-माहात्म्य

शास्त्रों में कहा गया है, भगवान् का नाम कोई, "हेलया श्रद्धया वा"—अनादरपूर्वक ले या श्रद्धापूर्वक, उसका कल्याण होगा ही। इस आश्वासनवाणी का भरोसा पाकर मनुष्य सोचता है कि भगवान् का नाम अधिक नहीं तो

एकाध बार ले लेना चाहिए। अधिक समय नष्ट न होने से ही हुआ। पर उपर्युक्त बात कहकर शास्त्र कहते हैं, "नाम तो लेते हो, लेकिन नाम किस प्रकार लिया जाता है यह जानते हो तो? नाम के साथ मन को एकाग्र करना होता है। एकाग्रता है तो?" बाप रे! एकाग्रता! वह तो कठिन बात है! उसके बदले एक हजार के स्थान पर दस हजार बार नाम जप लेंगे, पर पाँच मिनट के लिए भी एकाग्रता लाना कठिन बात है। स्वामीजी (विवेकानन्द) गा रहे हैं—"साधन भजन ताँर करो रे निरन्तर"। यह सुनकर ठाकुर विनोद करते हुए कहते हैं—"जो करेगा नहीं, वह कहता क्यों है? ऐसा कह—करो रे दिने दु बार"। तात्पर्य यह कि इस प्रकार से भगवान् के साथ कोई समझौता नहीं होता कि हम उनका दो बार नाम लेंगे और वे बदले में हमारा सब काम कर देंगे। भगवान् कहते हैं—"मैं योगक्षेम वहन करता हूँ"—अर्थात् जिसे जो लगता है वह देता हूँ और जिसके जो है उसकी रक्षा करता हूँ। तब तो भगवान् का भक्त होने में बड़ा लाभ है। हमें जो लगे उसका वे जुगाड़ कर देंगे और जो हमारे पास है उसकी रक्षा करने के लिए पहरा देंगे। पर वे अपनी उपर्युक्त बात के साथ एक बात और जोड़ देते हैं, जो हमारे ध्यान में नहीं रहती। कहते हैं—"अनन्याश्चिन्तयन्तः"—जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करता है, "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"—ऐसे मेरे साथ नित्ययुक्त लोगों का मैं योगक्षेम वहन करता हूँ। योगक्षेम की बात से खिंचकर उनकी ओर आ तो गया सही परन्तु उनकी शर्त को सुनकर कह उठता हूँ—"प्रभो, त्राहि माम्, त्राहि माम्, न तुम्हारा योग चाहिए और न क्षेम!"

वास्तव में हम चाहते हैं path of least resistance —न्यूनतम बाधावाला रास्ता। पर भगवान् को पाने का ऐसा कोई मार्ग नहीं है। उलटे हर मार्ग में विपत्ति का ढेर है, जहाँ पग-पग पर परीक्षा है। जिन गोपियों ने भगवान् को सर्वस्व समर्पण कर दिया, उन्हें भी ऐसी परीक्षा देनी पड़ी थी और परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ा था; तब कहीं उन्हें भगवान् की कृपा मिली थी।

त्याग और व्याकुलता

गोपियाँ घर छोड़कर, आत्मीय-स्वजन, पति-पुत्र सब छोड़कर पागलों के समान भगवान् के चरणों में छूटी आयीं और इधर भगवान् कहते हैं—"आयी हो, अच्छा किया, कहो, तुम लोगों के लिए मुझे क्या करना है?" मानो वे सब एकदम अपरिचित हों। अँगरेजी में जैसा कहा जाता है— What can I do for you ? (आपके लिए क्या कर सकता हूँ?) मानो ठीक ऐसा ही भाव है। जिसके लिए सब कुछ छोड़ा, वही यदि इस प्रकार व्यवहार करे तो इससे बढ़कर परीक्षा और क्या हो सकती है? लेकिन मार्ग की भयंकरता यदि प्रारम्भ से ही चित्रित कर दी जाय, तब तो भय के मारे कोई इस पथ पर पैर नहीं बढ़ाएगा। इसलिए कहना पड़ता है कि उपाय है। उन पर निर्भर करो। वे ही समस्त विपत्तियों से तुम्हारा उद्धार करेंगे। "तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्"—मैं मृत्युरूप संसार-सागर से उनका उद्धार करता हूँ, "मय्या-वेशितचेतसाम्"—जिनका चित्त मुझमें निविष्ट है। लेकिन कोई उद्धार चाहे तभी तो वे उद्धार करेंगे। ठाकुर कहते थे कि विष्ठा के कीट को यदि भात की हण्डी में रख दिया जाय तो वह मर जाएगा। हमारी अवस्था भी इसी

प्रकार है। संसार की मलिनता में ही हमें सन्तोष है और इसके भीतर ही हम हृष्ट-पुष्ट होते हैं, फिर भगवच्चिन्तन करने के लिए अवकाश कहाँ है? और यदि हम भगवान् की बात पसन्द भी करते हैं तो उसी प्रकार से, जैसाकि स्वामीजी ने कहा था—बैठकखाने को सजाने के लिए एक जापानी गुलदस्ते की आवश्यकता हम महसूस करते हैं; अर्थात् धर्म की आवश्यकता हमारे जीवन में गुलदस्ते के समान एक फैशन मात्र है। हम भगवान् की ओर इसी प्रकार मन देते हैं। लेकिन इस तरह मन देने से काम नहीं चलेगा, पूरा मन ही उन्हें देना पड़ेगा। पर हजार हजार बन्धनों को काटकर पूरा मन उनकी ओर देना एक कठिन बात है।

शरणागति

शास्त्र का निर्देश चाहे जितना कठिन हो, पालने की चेष्टा करनी चाहिए। क्यों?—इसलिए कि इसके अलावा मनुष्य के लिए कल्याणप्रद और कुछ नहीं है। इस बात को यदि मनुष्य हृदय से समझ सके, तब तो उनके चरणों में शरण लेना छोड़कर और वह करेगा ही क्या? भागवत कहता है कि मरणशील मनुष्य देखता है उसके पीछे मृत्यु-रूप कालसर्प डसने के लिए दौड़ा चला आ रहा है, इसलिए भय के मारे वह भाग खडा होता है; भागते भागते स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, तीनों लोकों को छान मारता है पर कहीं भी वह निस्तार नहीं देखता। पीछे वही कालसर्प दौड़ा आ रहा है। भागते-भागते अन्त में थककर, अवसन्न होकर वह देखता है कि भगवान् के पादपद्मों में आ पडा है। वह खोजकर तो नहीं पा सका था, पर भागते-भागते किसी प्रकार पूर्वजन्मों के पुण्यों से कहें या उनकी ही कृपा से—

उनके पादपद्मों के निकट आ पड़ा। और आकर वह निश्चिन्त होकर, आश्वस्त होकर सो गया। आश्वस्त क्यों? इसलिए कि कालसर्प का वहाँ भय नहीं है। लगता है कि इसी के प्रतीक के रूप में नारायण के वाहन के रूप में गरुड़ का ग्रहण है, जिसके पास साँप फटक नहीं सकता। इस प्रकार उनके पादपद्मों में शरण लेने पर मनुष्य मृत्यु के हाथ से छुटकारा पा जाता है।

मृत्यु किसे कहते हैं?—स्वयं को भूले रहना, स्वयं के स्वरूप को भूले रहना ही मृत्यु है। हमारी यह मृत्यु सब जगह है, हम सदैव मृत्युग्रस्त बने रहते हैं, क्योंकि मृत्यु का अर्थ केवल देह का नाश नहीं, बल्कि अर्थ है—उन्हें भूले रहना। इसलिए मृत्यु के हाथ से छुटकारा पाने का उपाय है उनका आश्रय लेकर रहना। पर उनका आश्रय लेना भी सहज नहीं है, यह हम बाद में समझ सकेंगे। इस लोक के समान तीन लोकों में भागते-भागते थककर तब कहीं उनके पादपद्मों में आश्रय पाएँगे। यह जो तीन लोकों में भागना है, यह जो मन के साथ संग्राम करना है, वह करके जब हम अवसन्न हो जाते हैं, तब कहीं अन्त में शरणागति का भाव हमारे मन में आता है, तभी वे हमें आश्रय देते हैं। यदि ऐसा न होता तो सदा उनके साथ ओतप्रोत रूप से जुड़कर भी हम कैसे उनसे दूर रहते? और यह साधना तभी शुरू होती है, जब यह संसार विषवत् अनुभव होता है।

संसार और साधना

अब यह तो बड़ी विडम्बना की बात है कि संसार में रहकर उसे विषवत् मानना होगा। पर सत्य यह है कि संसार मन को मधुर लगता है, तब अन्य मधुर की आवश्य-

कता कहाँ है ? फलतः वहाँ भगवान् की आवश्यकता नहीं है। यदि कभी आवश्यकता पड़ी भी तो हम कहेंगे—हे प्रभु, बच्चा बीमार है, ठीक कर दो; या कहेंगे—फसल जरा अच्छी देना। बस, भगवान् की आवश्यकता यहीं तक रहती है। हम इस संसार को चाहते हैं, और इस संसार में सुख पाने के तथा दुःख से बचने के उपाय के रूप में हम भगवान् को चाहते हैं। वास्तव में हृदय से हम उन्हें नहीं चाहते। ऐसे वीरहृदय व्यक्ति बहुत कम हैं जो उनके लिए सर्वस्व त्याग करने को प्रस्तुत हैं। सुनकर ऐसा लगेगा कि यह तो संन्यास की बात है, लेकिन यह संन्यास की बात नहीं है, यह सच्चे भक्त के हृदय की बात है। जब हम कहते हैं, "नाथ, तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो", तब हम इस बात को तोतारटन्त की तरह दुहराते हैं। उसके अर्थ को हृदयंगम करने योग्य दृढ़ता हममें नहीं होती। ठाकुर कह रहे हैं—"तुम यह भी करो, वह भी करो।" लेकिन तुरत बाद वे यह भी कहते हैं कि जब परिस्थिति अनुकूल हो, तब "दोनों हाथ से उन्हें पकड़ लो"। यह जो दोनों हाथ से उन्हें पकड़ना है, यही लक्ष्य है; और इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ही, अवस्थाविशेष में आवश्यकता होने पर, एक हाथ से उन्हें पकड़ने की बात कही गयी है। यह न हो तो संसार में एक हाथ और भगवान् में दूसरा हाथ—यह कोई काम की बात नहीं हुई। मूल बात है, दोनों हाथ से उन्हें पकड़ना। पर देखा जाता है कि या तो संसार हमें नहीं छोड़ता या फिर हमीं संसार को नहीं छोड़ते। मानो आपस में एक प्रकार का समझौता कर लेते हैं। कहा जाता है कि ठीक है, एक हाथ से संसार के काम-काज करो और और दूसरे हाथ से भगवान् को पकड़े रहो। ठाकुर के शिष्य

कहा करते थे कि यदि दो आना मन लगाकर भी संसार किया जाय तो व्यक्ति डूब जाएगा। हम लोग बहुधा कहा करते हैं, "संसार में इतना काम है कि भगवच्चिन्तन करने का अवकाश नहीं मिलता"—यह बात भी यदि सर्वदा मन में रहे तो प्रकारान्तर से उन्हीं का चिन्तन हो जाता है। पर वह तो होता नहीं है। वस्तुतः हम जो कहते हैं कि काम के भार के कारण मुझे ईश्वर-चिन्तन का समय नहीं मिलता, वह केवल आत्मप्रवंचना है, अपने को भुलावे में रखना है। उस समय क्या यह बात मन में रहती है कि उन्हें छोड़कर और कुछ नहीं है, तब क्या यह याद रहता है कि "ईशावास्यमिदं सर्वम्"—इस विश्व ब्रह्माण्ड को उस आत्मतत्त्व से भर लेना होगा, अपने समस्त जीवन को उसी ईश्वर से भर लेना होगा ?

○

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन (९)

दक्षिणेश्वर से विदाई

स्वामी योगेशानन्द

(लेखक अमेरिकन हैं और विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो में कार्यरत हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन में घटे दिव्य अनुभवों का सुन्दर संकलन किया है, जो रामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा The Visions of Sri Ramakrishna के नाम से ग्रन्थाकार में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक की अनुमति से यह अनुवाद हिन्दी पाठकों के लाभार्थ रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है।—स०)

हम श्रीरामकृष्ण के जीवन के उस पर्व की चर्चा कर रहे हैं, जब वे सक्रिय रूप से धर्मशिक्षा प्रदान कर रहे थे। ऐसा लगता है उन्हें कुछ दर्शन ऐसे समय हुए, जब उनके मन में अपना उपदेश किसी को दृष्टान्त के द्वारा समझाने की इच्छा होती थी। उदाहरणार्थ, उन्होंने बताया था कि एक बार जब वे किसी व्यक्ति को ईश्वर के कार्य के बारे में समझा रहे थे, ईश्वर ने अचानक ही उन्हें कामारपुकुर ग्राम का हालदारपुकुर तालाब दिखाया। एक निम्न जाति का आदमी उसमें से काई हटाकर पानी भर रहा था। वह आदमी बीच-बीच में पानी को हथेली में लेकर जाँच करता था। जल स्फटिक की भाँति स्वच्छ था। ठाकुर का कहना था कि इस दर्शन के माध्यम से उन्हें बताया गया कि सच्चिदानन्द मायारूपी काई से ढका हुआ है और काई को हटाये बिना उन्हें देखा नहीं जा सकता। अतः कर्म के बिना भक्ति नहीं होती, ईश्वर-दर्शन नहीं होता। कर्म का अर्थ है ध्यान, जप, दान, यज्ञ आदि।[1] एक

---

१. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं०, पृष्ठ ३८८; भाग २, पंचम सं०, पष्ठ ५३० ।

ऐसे ही दर्शन में उन्होंने देखा कि हवा काई को ठेलकर किनारे हटा रही है।[२] फिर है सिख सैनिकों द्वारा पूछा गया प्रश्न। दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर के उत्तर की ओर अंगरेज सरकार का बारूदखाना था। वहाँ पर पहरा देने-वाले कुछ सिपाहियों की श्रीरामकृष्ण के प्रति बड़ी भक्ति थी और वे कभी-कभी उनसे मिलने आया करते थे। एक दिन उन लोगों ने पूछा, "संसार में किस ढंग से रहने पर मनुष्य को धर्मलाभ होगा ?" श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "उसी समय मैंने देखा, कहीं से एक ढेंकी का चित्र सामने आ गया। ढेंकी में धान कूटा जा रहा है और एक व्यक्ति बड़ी ही सावधानी से उसके गढ़े के भीतर धान उलटता जा रहा है। देखते ही समझ में आया कि माँ ने समझा दिया है कि इसी तरह सावधान होकर संसार में रहना होता है। ढेंकी के गढ़े के सामने बैठकर जो अनाज को उलट रहा है, उसमें जिस प्रकार सावधान-दृष्टि है कि ढेंकी का मूसल हाथ पर आ न पड़े, उसी तरह संसार म हर एक काम करते समय याद रखना होगा कि यह मेरा संसार या मेरा काम नहीं है। ऐसा करने से बन्धन में पड़कर आहत या विनष्ट नहीं होगे। ढेंकी का चित्र दिखाकर माँ ने मेरे मन में उस बात का उदय कर दिया और उन लोगों को भी मैंने वैसा ही करने को कहा। वे लोग भी मेरी बात सुनकर बहुत आनन्दित हुए। लोगों से बातचीत करते समय इस प्रकार के चित्र सामने आ जाते हैं।"[३] अब यहाँ पर कोई-कोई ऐसा सोच सकते हैं कि ये 'चित्र' तो किसी भी व्यक्ति के

२. वही, भाग ३, तृतीय सं०, पृष्ठ २७०।

३. 'लीलाप्रसंग', भाग ३, तृतीय सं०, पृष्ठ ३३-३४।

मन में आये हुए कल्पना-चित्रों या विचारों से भिन्न नहीं हैं, अतः इन्हें दिव्य दर्शन कहने की कोई सार्थकता नहीं। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि सम्भवतः इनमें प्रमुख भेद यह है कि हमारे मामले में मन में पहले एक विचार कौंधता है, तदुपरान्त हम एक उदाहरण की तलाश करते हैं, जबकि श्रीरामकृष्ण के मामले में उदाहरण तुरन्त और पहले आया और उसके बाद उसका तात्पर्य स्पष्ट हुआ।

श्रीरामकृष्ण ने कोई सूचना-पट्ट नहीं लगाया था। देवालय-उद्यान में रहनेवाले इस महापुरुष के परिचित लोग अपने मित्रों एवं सम्बन्धियों को अपने साथ उनके दर्शनों के लिए ले आते और इस प्रकार ठाकुर की शिष्य-मण्डली का गठन हुआ। उनके अन्तरंग भक्तों की श्रेणी अलग थी, जिन्हें उन्होंने अपने परम आत्मीय के रूप में पहचाना था। अपने बहिरंग भक्तों की श्रेणी को अलग करते हुए उन्होंने बतलाया था कि वे लोग उनके संग एवं उपदेशों से लाभान्वित होंगे। कभी-कभी किसी के आने पर उसे देखते ही वे उसे अपना अन्तरंग जान चौंक उठते थे। १८८४ ई. की फरवरी में एक दिन वे एक भक्त को यह बतलाते हुए कि ईश्वर स्वयं ही मानव-रूप धारण कर लीला कर रहे हैं, कहने लगे—"कभी-कभी मनुष्य अपने सत्यस्वरूप की झलक पा जाता है और आश्चर्य से चकित हो निर्वाक् रह जाता है। ऐसे समय में वह आनन्द-समुद्र में तैरने लगता है। एकाएक आत्मीयों को देखकर जैसा होता है। उस दिन गाड़ी पर आते हुए बाबूराम को देखकर जैसा हुआ था।" उन दिनों बाबूराम उस मधुर-मण्डली में सम्मिलित हो रहे थे। अगले जून में ठाकुर को अपने उस शिष्य के वास्तविक स्वरूप का दर्शन हुआ, जो आगे चल-

कर स्वामी प्रेमानन्द हुआ था। उन्होंने बाबूराम को देवी के रूप में देखा, जिनके गले में माला तथा संग में सखियाँ थीं; कुछ दिनों बाद जगदम्बा ने उन्हें बताया था कि उस बालक को दिव्य दर्शन तो न होंगे, पर सर्वोच्च ज्ञान होगा।[४] उन्होंने शशि और शरत् के बारे में देखा था कि वे ईशु के दल में थे।[५] पर इससे और अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

सुन्दर और बलिष्ठ निरंजन ने अपनी माँ के जीवन-निर्वाह के लिए दफ्तर में नौकरी कर ली थी। इन उन्मुक्त और आनन्दी युवा भक्तों में से यदि कोई धनोपार्जन के निमित्त किसी नौकरी में लग जाता, तो श्रीरामकृष्ण सामान्यतया इस बात को सहन न कर पाते थे। परन्तु इस बार भावावेश में उन्हें पता चला कि निरंजन के ऐसा करने पर भी उसे अंजन (कालिमा) न लगेगा। ठाकुर ने उन्हें 'एक ज्योति पर बैठे हुए' भी देखा था।[६]

श्रीरामकृष्ण को अपने रसददारों के बारे में हुए दर्शन का उल्लेख हम पहले ही कर आये हैं। वहाँ पर यह भी कहा गया है कि उनमें से सबकी पहचान न हो सकी थी। बहुत से लोगों का विचार है कि बलराम बोस भी उनमें से एक थे। उपर्युक्त मत को इस तथ्य से भी समर्थन मिलता है कि एक दिन सन्ध्या के समय श्रीरामकृष्ण ने बताया कि भावावस्था में उन्होंने देखा—अधर का घर, सुरेन्द्र का घर, बलराम का घर—ये सब उनके संगठित

---

४. 'वचनामृत', भाग २, पंचम सं०, पृष्ठ ३९, १६५, २२२।

५. वही, भाग ३, तृतीय सं०, पृष्ठ ४७३।

६. वही, भाग २, पृष्ठ १६६; भाग ३, पृष्ठ २३१।

होनेवाले आध्यात्मिक परिवार के अड्डे हैं।[७] सबसे भाग्यवान् तो उनके वे १०-१२ भक्त थे, जिनके घर वे अपनी बीमारी से पूर्व जाया करते थे। बहुधा वे परिवार की महिलाओं को भी साथ ले जाने की विशेष चेष्टा करते, जिससे वे उनके सत्संग से वंचित न रहें। इनमें से सिर्फ दो या तीन या सम्भवतः इससे भी कम घर ऐसे थे जहाँ उन्होंने कभी रात बितायी हो। अपनी गम्भीर बीमारी के बारे में बातें करते हुए श्रीरामकृष्ण ने बताया था कि उन्होंने अपने शरीर को एक कंकाल की तरह थोड़े समय तक जुड़े रखने के लिए जगदम्बा से प्रार्थना की थी, जिससे वे ईश्वर का गुणगान और भक्तों का संग करते हुए आनन्द मना सकें। तदुपरान्त उन्होंने कहा था, "पर माँ ने मुझे चलने-फिरने की शक्ति नहीं दी।"

इस दृष्टि से देखा जाय तो उनका पानीहाटी के महोत्सव में, कलकत्ते के विभिन्न अंचलों में तथा स्टार थियेटर को जाना विलक्षण-सा लगता है। पर हाँ, अधिकांश मार्ग वे सवारी-गाड़ी में ही तय करते थे। वे ऐसी जगहों पर भी दिव्यत्व देख पाते, जहाँ दूसरों के लिए वह अकल्पनीय होता। कभी गाड़ी में जाते समय वे अचानक ही मदिरालय में खड़े किसी शराबी को नमस्कार करने के लिए अपने संगी के दिल को धड़काते हुए भागती गाड़ी से बाहर की ओर झुक जाते। सभी प्रकार का आनन्द जगन्माता से ही निकला था; वह फिर जो भी रूप धारण क्यों न करे, उन्होंने सदैव उसके मूल कारण——जगदम्बा को ही देखा। अपने कलकत्ता-निवास के दिनों में कभी वे

७. वही, भाग २, पृष्ठ १६९।

मल्लिक वंश के एक मकान में गये थे, जिसकी इष्टदेवी सिंहवाहिनी थी। उक्त परिवार की निर्धनता के कारण वह मकान अत्यन्त जीर्ण अवस्था में था—दीवालें गिर रही थीं और फर्श पर जगह-जगह काई जमी हुई थी। सम्भवतः मन्दिर भी खूब साफ-सुथरा न था। "परन्तु", श्रीरामकृष्ण ने बताया, "उस टूटे-फूटे मकाग में भी मैंने देखा कि सिंहवाहिनी का चेहरा जगमगा रहा है! आविर्भाव मानना ही पड़ता है।"[८] फिर, एक बार किसी ने उनसे एक विशिष्ट स्थान के बारे में कहा, "अमुक स्थान पर हरिनाम नहीं होता। वहाँ का वातावरण पवित्र नहीं है।" उस व्यक्ति ने ज्योंही यह बात कही, श्रीरामकृष्ण ने स्पष्ट देखा कि ईश्वर ने स्वयं ही सब जीवों का रूप धारण किया है और उन्हें वे सब के सब सच्चिदानन्द-सागर में असंख्य बुलेबुले या जलबिम्ब के समान प्रतीत हुए थे।[९]

हमारे चर्चित काल में एक दिन ठाकुर ने अपनी निजी ध्यान-पद्धति के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही थीं। एक दिन वे ब्राह्मसमाज के एक मन्दिर में गये। वहाँ ब्राह्म-नेता विजयकृष्ण गोस्वामी के साथ वार्तालाप कर रहे थे। बोले, "मैं भी आँखें मूँदकर ध्यान करता था। उसके बाद सोचा, क्या इस तरह करने पर (आँखें मूँदने पर) ईश्वर रहते हैं और इस तरह करने पर (आँखें खोलने पर) ईश्वर नहीं रहते? आँखें खोलकर भी मैंने देखा, सब भूतों में ईश्वर विराजमान हैं। मनुष्य, जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, सूर्य-चन्द्र, जल-स्थल और अन्य सब भूतों में वे हैं।"[१०] और

८. वही, भाग १, पृष्ठ ४१९-२०।
९. वही, पृष्ठ ५९७-९८।
१०. वही, भाग २, पृष्ठ ३६२-६३।

आइए अब हम एक और स्वीकारोक्ति सुनें—"मैं ध्यान कर रहा था, ध्यान करते-करते मन चला गया रसके के घर में। रसके मेहतर है। मन ने कहा, 'अरे, रह, वहीं पर रह।' माँ ने दिखा दिया, उसके घर में जो लोग घूम रहे हैं, वे बाहर का आवरण मात्र हैं, भीतर वही एक कुल-कुण्डलिनी, एक षट्चक्र है!"[११]

१८८४ ई. के सितम्बर में श्रीरामकृष्ण भक्तों के आध्यात्मिक कल्याण को लकर काफी व्यस्त थे। इसके पूर्ववर्ती महीने में राखाल बलराम के साथ वृन्दावन को गये थे। उस समय राखाल की तबीयत बिगड़ने तथा इस कारण उनके बाहर जाने के बारे में ठाकुर को पहले से ही एक दर्शन के माध्यम से पता चल गया था। उन्होंने उक्त दर्शन का विवरण तो नहीं दिया, परन्तु कहा कि जगदम्बा ने उन्हें सूचित किया है कि वे राखाल को वहाँ से हटानेवाली ह। इस पर उन्होंने जगदम्बा से प्रार्थना की थी, "माँ, वह बच्चा है, उसे इतनी समझ कहाँ है? इसीलिए कभी-कभी अभिमान कर बैठता है। यदि अपने कार्य के लिए तू उसे कुछ दिनों के लिए यहाँ से हटाए तो उसे किसी अच्छी जगह आनन्दपूर्वक रखना।" उस वर्ष की कालीपूजा १८ अक्तूबर की सुहावनी सन्ध्या को पड़ी थी। आधी रात का समय था। पूजा प्रारम्भ होने ही वाली थी। श्रीरामकृष्ण कमरे के बीच में खड़े थे। पास में बाबूराम थे। बाबूराम का स्पर्श कर वे एकाएक समाधिमग्न हो गये। बाबूराम की गर्दन के पीछे श्रीरामकृष्ण का हाथ था। कुछ देर बाद

११. वही, भाग १, पृष्ठ ४५६।

समाधि छूटी । तब भी आप खड़े ही रहे, मानो किसी विचार में डूबे हों । फिर वे समवेत भक्तों को अपनी अभी हुई अनुभूति की बातें बतलाने लगे, जैसा कि वे विरला ही करते थे—"मैंने सब देखा—कौन कितना बढ़ा । राखाल, ये ('म') सुरेन्द्र, बाबूराम, बहुतों को देखा ।"

हाजरा—मुझको भी ?

श्रीरामकृष्ण—हाँ

हाजरा—अब भी अनेक बन्धन हैं ?

श्रीरामकृष्ण—नहीं ।

हाजरा—नरेन्द्र को भी देखा ?

श्रीरामकृष्ण—नहीं, परन्तु कह सकता हूँ, कुछ फँस गया है; परन्तु देखा कि सबकी बन जाएगी ।... परन्तु इसको (बाबूराम को) छूने पर ऐसा हुआ ।[१२]

नरेन्द्र शायद इस दर्शन में न दिखे थे, परन्तु वे श्रीरामकृष्ण के मन पर छाये हुए थे । उनके पिता का अचानक ही देहावसान हो गया था, और कानूनी समस्याओं के फलस्वरूप, उनकी माता, भाई तथा बहनें अपने जीवन-निर्वाह के लिए बहुत कुछ उन्हीं पर निर्भर थीं । नरेन्द्र की भलाई तथा मानसिक शान्ति के लिए श्रीरामकृष्ण इतने चिन्तित थे कि उन्होंने किसी प्रकार अपने मन को जगदम्बा से ऐसी प्रार्थना करने के लिए राजी कर लिया कि वे नरेन्द्र को थोड़ा सा धन दे दें । इस घटना का स्थान-काल आदि कुछ भी हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि नरेन्द्र स्वयं भी सिर्फ श्रीरामकृष्ण से सुना हुआ जगदम्बा का उत्तर

१२. वही, भाग २, पृष्ठ ४७७ ।

ही बताते हैं—"मोटा कपड़ा और रूखा-सूखा भोजन मिल सकता है—रोटी-दाल मिल सकती है।"[१३] इसके अतिरिक्त, यद्यपि नरेन्द्र की क्षमताएँ उस समय अव्यक्त थीं, तथापि ठाकुर जानते थे कि उनसे कितनी अपेक्षा रखी जाय। कई वर्षों पूर्व जब वे केशव सेन, विजय गोस्वामी तथा अन्य ब्राह्म-नेताओं के साथ अपने कमरे में बैठे थे और नरेन्द्र भी वहाँ उपस्थित थे, उनके मानस-पटल पर अचानक ही नरेन्द्र के उज्ज्वल भविष्य का चित्र अंकित हो उठा था। सभा-भंग होने के बाद उन्होंने कुछ भक्तों को बताया था—"मैंने देखा कि केशव जिस प्रकार की एक शक्ति के विकास के द्वारा संसार में विख्यात हुआ है, नरेन्द्र के भीतर उस प्रकार की अट्ठारह शक्तियाँ पूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं। फिर देखा, केशव और विजय का हृदय दीपशिखा के समान ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल बना हुआ है। बाद में नरेन्द्र के भीतर देखा—ज्ञानसूर्य ने उदित होकर माया-मोहरूप अज्ञान को वहाँ से अपसारित कर दिया है।" [१४]

एक दिन रविवार को तीसरे पहर अनेकों भक्त ठाकुर को घेरकर कमरे की फर्श पर बैठे हुए ईश्वर के इस आनन्दमय पुत्र का अवलोकन कर रहे थे। उनका मुख-मण्डल दीप्त परन्तु विचारमग्न था। वे कहने लगे, "मैं सभी चीजों में राम को देख रहा हूँ। तुम लोग यहाँ बैठे हो, परन्तु मैं तुममें से हर एक के भीतर राम को देख रहा हूँ।" यह उनका 'खुली आँखों' से देखने का भाव

१३. वही, भाग ३, पृष्ठ ६७०।

१४. Life of Swami Vivekananda, 6th Edn., page 58.

था। एक अन्य भाव के समय उनका मन पूर्णतः अन्तर्मुखी हो जाता, जिसमें वे ईश्वर के अनन्त रूप भी देखते रहते और बीच-बीच में इन्द्रिय-चेतना के स्तर तक भी आ जाते । एक ऐसी ही घटना १८८५ ई. के फरवरी या मार्च महीने में घटी थी । लगता है बाह्य चेतना की अवस्था में ही उन्होंने देखा कि उनके शरीर से सच्चिदानन्द बाहर निकल आये और उनसे कहा, "हर एक युग में मैं ही अवतार कहलाता हूँ ।" उन्होंने 'म' को बताया था—"मैंने सोचा, यह मेरी ही कोई कल्पना होगी । फिर चुपचाप देखने लगा ।—तब मैंने देखा, वह स्वयं कह रहा है, 'शक्ति की आराधना चैतन्य को भी करनी पड़ी थी ।"[१५] हमारे लिए निश्चय ही यह एक बड़ी विचित्र भाषा है और यह अनुभूति भी अध्ययन के योग्य है । जब कोई बाह्य दृष्टि से सच्चिदानन्द को देखता है तो उस समय वे वस्तुतः कौन से आकार में होते हैं ? फिर यह तथ्य भी कितना रोचक है कि श्रीरामकृष्ण ने स्वयं भी पहले तो इसे मानसिक कल्पना ही समझा, तदुपरान्त अनुभूति ने ही अपना वास्तविक स्वरूप स्पष्ट किया । फिर उसमें एक नयी सूचना भी है; जहाँ तक हमें विदित है चैतन्य महाप्रभु के बारे में ऐसी बात पहले कभी नहीं कही गयी है ।

एक और उदाहरण लें । एक भक्त, जिन्हें वे 'बेलघरिया के तारक' कहा करते थे, दक्षिणेश्वर से घर लौटने को उनसे विदा ले रहे थे । श्रीरामकृष्ण ने देखा उनके भीतर से 'शिखा की तरह जलता हुआ कुछ' निकला और शिष्य के पीछे पीछे गया । कुछ दिनों बाद जब तारक

१५. 'वचनामृत', भाग ३, पृष्ठ ५६ ।

पुनः आये तो श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये और तदुपरान्त उन्हीं के शब्दों में—"तब समाधिस्थ होकर उसकी छाती पर पैर रख दिया—उन्होंने, जो इसके (मेरे) भीतर है।"[१६] (कभी कभी श्रीरामकृष्ण भावसमाधि की अवस्था में वहाँ उपस्थित लोगों में से किसी व्यक्ति का शरीर अपने पाँवों से स्पर्श कर देते थे। बाद में चेतना लौटने पर उन्हें जब इस बात का पता चलता, तो कभी-कभी वे इसके लिए क्षमायाचना करते, पर वह व्यक्ति तो अपने आपको कृतकृत्य मानता। वे कहा करते कि ऐसे लोग जिनके कारण ऐसी घटना हो जाती है, अत्यन्त शुद्ध आधार होंगे।)

श्रीरामकृष्ण बहुधा कहा करते कि १८८५ ई. में पूर्ण नामक बालक के आ जाने से उनके अन्तरंग शिष्यों का आगमन पूर्ण हो गया है। यह उनका अपना मत नहीं था, वरन् स्वामी सारदानन्द ने उन्हें कहते सुना था कि जगदम्बा ने उन्हें बताया—"दर्शन में तूने जिन-जिन लोगों को देखा था कि वे तेरे पास आएँगे, पूर्ण के आने से उन लोगों का आना पूर्ण हो गया। इस श्रेणी के लोगों में से अब किसी का आना बाकी नहीं रहा।" शिष्यों की एक टोली को उन्होंने यह भी बताया—"माँ ने तुम लोगों को दिखाते हुए कहा था, 'ये ही सब तेरे अन्तरंग हैं।' यह है अद्भुत दर्शन तथा उसकी अद्भुत सफलता!"[१७] ठाकुर को यह सबसे छोटा बालक अत्यन्त प्रिय था और उन्होंने 'म' को बताया कि पूर्ण में उन्हें 'छोर मिल रहा है'।

---

१६. वही, पृष्ठ २१२।

१७. 'लीलाप्रसंग', भाग २, तृतीय सं०, पृष्ठ ४१२।

ठाकुर काफी दिनों से आशा तथा प्रार्थना कर रहे थे कि उनके परमप्रिय नरेन्द्र उनकी इष्ट काली की सत्यता एवं रक्षणशक्ति में विश्वास करें। अन्त में ऐसा ही हुआ। नरेन्द्र का मन बदला। किसी भी युक्ति-तर्क की अपेक्षा अपनी पारिवारिक दुरवस्था तथा मित्रों की स्वार्थपरता के द्वारा कहीं अधिक पीटे जाने के कारण वे बड़ी संकटावस्था में पहुँच गये थे और श्रीरामकृष्ण से प्राप्त होनेवाले और भी अधिक घनिष्ठ प्रभाव के लिए अपना हृदय खोल रखा था। फलस्वरूप कालीमन्दिर में एक नाटकीय दृश्य उपस्थित हुआ, जिसमें नरेन्द्र ने ईश्वर की शक्ति काली को अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान देते हुए उनसे शुद्ध ज्ञान और भक्ति की प्रार्थना की। हमें मतलब है उसके अगले दिन की घटना से, जो उस वर्ष के जून या जुलाई में घटित हुई थी, जब नयी परिस्थिति के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने नाटकीय ढंग से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। सौभाग्यवश हमारे लिए एक प्रत्यक्षदर्शी द्वारा वर्णित विवरण उपलब्ध है। "दोपहर को विश्राम करने के पश्चात् नरेन्द्र लगभग चार बजे उठे और आकर ठाकुर के समक्ष बैठ गये। ऐसा लग रहा था मानो नरेन्द्र कलकत्ता लौटने के लिए उनसे विदा लेने आये हों। परन्तु ठाकुर उन्हें देखते ही भावाविष्ट हो उनसे सटकर प्रायः उन्हीं की गोद में आ बैठे और कहने लगे—(अपना शरीर और नरेन्द्र का शरीर क्रमशः दिखाकर) 'देखता हूँ कि यह मैं हूँ, फिर वह भी मैं हूँ। सच कहता हूँ—कुछ भी भेद नहीं देख पा रहा हूँ! जैसे गंगा के जल में लाठी डाल देने से दो भाग दिखाई पड़ते हैं—पर यथार्थ में दो भाग नहीं हैं, एक ही है।

समझा ? माँ के सिवाय और है ही क्या, क्यों ?' इसी प्रकार बात करते हुए एकाएक बोल उठे, 'तम्बाकू पिऊँगा।' मैंने जल्दी से चिलम में तम्बाकू लगाकर उनका हुक्का उनके हाथ में दिया। दो-एक कश खींचकर उन्होंने हुक्का लौटाते हुए कहा, 'चिलम में पिऊँगा।' इतना कहकर चिलम हाथ में लेकर कश लगाने लगे। दो-चार बार खींचकर चिलम को नरेन्द्र के मुख के पास ले जाकर कहा, 'पी, मेरे हाथ से ही पी ले।' नरेन्द्र इस बात से बहुत ही संकोच में पड़ गये। यह देखकर उन्होंने पुनः कहा, 'तेरी बुद्धि तो बड़ी छोटी है, क्या तू और मैं भिन्न हूँ ? यह भी मैं हूँ, वह भी मैं हूँ'—इतना कहकर नरेन्द्रनाथ को तम्बाकू पिलाने के लिए फिर से अपना हाथ उनके मुख के पास ले गये। लाचार होकर नरेन्द्रनाथ ने ठाकुर के हाथ में मुख लगाकर दो-तीन कश खींचकर मुख हटा लिया। ठाकुर उन्हें मुख हटाते देखकर पुनः स्वयं तम्बाकू पीने लगे। नरेन्द्र व्यस्त होकर तुरन्त ही बोल उठे, 'महाराज, हाथ धोकर तम्बाकू पीजिए।'[१८] परन्तु वह बात सुनता कौन है ? 'धत् मूर्ख, तुझमें तो भारी भेदबुद्धि है'—इतना कहकर ठाकुर उस जूठे हाथ से ही तम्बाकू पीने और भावावेश में बातें करने लगे; परन्तु दुःख की बात यह है कि वे सब अलिपिबद्ध ही रह गयीं !''[१९]

१८. खाद्यवस्तु मे से यदि थोड़ा सा अंश भी पहले ही किसी को दे दिया जाता, तो ठाकुर उसके बाकी अंश को जूठा मानकर ग्रहण नहीं कर पाते थे।

१९. 'लीलाप्रसंग', भाग ३, पृष्ठ १८४।

इसके कुछ दिनों बाद ही ठाकुर ने 'म' को अपनी मनोदशा के बारे में कुछ ऐसी बातें बतलायीं, जो हमारी इस विवरणी की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, साथ ही एक अनुभूतिसम्पन्न व्यक्ति के दर्शनों में पायी जानेवाली स्वाधीनता की मात्रा भी प्रदर्शित करती हैं। विधवा ब्राह्मणी 'गोपाल की माँ' को छोड़ ठाकुर के शिष्यों में दूसरा कोई भी ऐसा न था, जिसके द्वारा प्राप्त दर्शनों की उनके दर्शनों के साथ तुलना की जा सके; यहाँ पर ठाकुर उन्हीं का उल्लेख करते हुए कहते हैं—"वे अनेक रूपों में दर्शन देते हैं। कभी नररूप से, कभी चिन्मय ईश्वर के रूप से। रूप मानना चाहिए। कामारहाटी की ब्राह्मणी (गोपाल की माँ) तरह तरह के रूप देखती है; गंगा के किनारे, एक निर्जन कुटिया में अकेली रहती है और जप किया करती है। गोपाल के पास सोती है। (कहते ही कहते श्रीरामकृष्ण चौंके) कल्पना में नहीं, साक्षात्। उसने देखा, गोपाल के हाथ लाल हो रहे हैं! गोपाल उसके साथ साथ घूमते हैं! —उसका दूध पीते हैं! —बातचीत करते हैं! नरेन्द्र सुनकर रोने लगा। पहले मैं भी बहुत कुछ देखा करता था। इस समय भाव में उतना दर्शन नहीं होता। अब प्रकृति-भाव घट रहा है। पुरुष-भाव आ रहा है। इसीलिए अन्तर में ही भाव रहता है, बाहर उतना प्रकाश नहीं हो पाता।"[२०]

उन दिनों वे रथयात्रा का उत्सव देखने क लिए बलराम बोस के घर में ठहरे हुए थे। अगले दिन वहीं पर उन्हें एक दर्शन हुआ। भक्तों के समक्ष उसका वर्णन

२०. 'वचनामृत', भाग ३, पृष्ठ २११।

करते हुए श्रीरामकृष्ण भावसमाधि में चले गये और काफी देर तक उसी में डूबे रहे। फिर बाह्यचेतना लौटने पर उन्होंने 'म' से कहा—"मैं देख रहा था, ब्रह्माण्ड एक शालग्राम है। उसके भीतर तुम्हारी दो आँखें देख रहा था।" 'म' कहते हैं कि वे लोग आश्चर्यचकित होकर ये अद्भुत बातें सुन रहे थे।[२१]

श्रीरामकृष्ण के गले की पीड़ा कब से आरम्भ हुई, इस विषय में निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। १३ जून १८८५ ई. को 'म' अपनी डायरी में लिखते हैं कि उस दिन दक्षिणेश्वर आकर उन्होंने पाया श्रीरामकृष्ण के गले में गिलटी पड़ गयी है और वे उसके तथा अत्यधिक गर्मी के कारण कुछ अस्वस्थ से हैं। श्रीरामकृष्ण-जीवनी के पाठकों को सुविदित है कि यह बीमारी बाद में कैंसर के रूप में पहचानी गयी थी और अन्त में उनके देहत्याग का कारण हुई थी। उन्हें देखने को एक-एक करके अधिकांश प्रसिद्ध चिकित्सक बुलाये गये और कोई-कोई चिकित्सा लाभकारी भी प्रतीत हुई, परन्तु अन्त में सब कुछ निष्फल सिद्ध हुआ। तीन महीने तक ऐसा ही चलता रहा। फिर अगस्त में एक दिन उन्हें प्रातःकाल आठ बजे से ही मौनव्रत धारण किये देख श्रीमाँ रोने लगीं। समागत भक्त भी यह सोचकर कि सम्भवतः अब वे न बोलेंगे, रोने लगे। तीसरे प्रहर उन्होंने जब पुनः बोलना शुरू किया तो भक्तों की छाती से मानो एक बड़ा बोझ उतर गया। श्रीरामकृष्ण अपनी बीमारी को लेकर चिन्तित नहीं थे, उन्होंने भक्तों को बताया कि मौन के दौरान उन्हें क्या अनुभूति हुई—जगदम्बा ने उन्हें दिखाया कि वे ही सत्य

२१. वही, पृष्ठ २२२।

हैं और शेष सभी माया का ऐश्वर्य है। फिर उन्होंने यह भी दिखाया कि भक्तों––विशेषकर नित्यगोपाल, राखाल, नारायण, पूर्ण, महिमा चक्रवर्ती आदि––में से किसका कितना हुआ है।[२२]

अब श्रीरामकृष्ण की देख-भाल और सेवा-शुश्रूषा की आवश्यकता बढ़ती जा रही थी। फलस्वरूप भक्तगण उनके प्रति स्नेहपूर्ण भावनाओं के वशीभूत हो उसकी वैकल्पिक व्यवस्था के लिए सोच-विचार करने लगे। कलकत्ते से चार मील दूर अवस्थित दक्षिणेश्वर में ऐसी व्यवस्था कर पाना विशेष कठिन था, और वह भी तब, जब मन्दिर का स्वामित्व ऐसे हाथों में जा चुका था, जो उनके प्रति सम्मान का भाव रखने पर भी उनकी आवश्यकताओं के प्रति विशेष चिन्तित नहीं था। नौबतखाने में निवास कर रही केवल श्रीमाँ ही निरन्तर उनकी देखभाल और पथ्य-ओषधि आदि की व्यवस्था में लगी रहतीं, पर वे भी कभी-कभी परिस्थितियों से बाध्य हो वह न कर पातीं। अतः ऐसा निर्णय हुआ कि पुराने भक्त अपनी आमदनी का कुछ अंश जोड़कर ठाकुर की चिकित्सा और देखरेख के लिए कलकत्ते में किराये पर एक मकान लें और उनकी दैनन्दिन सेवा युवा भक्तगण आपस में पारी बाँधकर बारी-बारी से करें। परिस्थितियों का ऐसा दबाव आये बिना सम्भवतः उन्हें कालीमन्दिर परिसर छोड़ने को राजी कर पाना सम्भव न हो पाता, जो उनकी साधनाओं के फलस्वरूप इतना जाग्रत् हो उठा था। परन्तु सितम्बर के अन्त में उन्हें वह करना ही पड़ा और उन्होंने वहाँ से विदाई ली। ○

२२. वही, पृष्ठ २७७।

माँ के सान्निध्य में (६)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ सारदादेवी के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री-मायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर के संचालक हैं।—स०)

जयरामवाटी : २६-५-१९११

श्री माँ रामेश्वर-दर्शन के पश्चात् कुछ दिन कलकत्ते ठहरकर सप्ताह भर पहले जयरामवाटी पहुँची थीं। माँ के पुराने घर के बरामदे में शाम के समय बातचीत हो रही थी। माँ किसी भक्त के बारे में पूछ रही थीं।

माँ—उसने क्या कहा था ?

मैं—उसके प्राण तुम्हारे लिए तीन-चार महीने से व्याकुल थे।

माँ—यह क्या ? साधु को सब माया काटनी होगी। सोने की बेड़ी भी बेड़ी है और लोहे की बेड़ी भी बेड़ी। साधु को माया में नहीं फँसना चाहिए। केवल कहना 'माँ का स्नेह, माँ का स्नेह, माँ का प्यार नहीं पाया', यह सब क्या है ? लड़कों का सब समय साथ में रहना मुझे अच्छा नहीं लगता। मनुष्य की आकृति है तो ? भगवान् तो बाद की बात है। मुझे परिवार की बहू-बेटियों को लेकर रहना होता है। आशु भी चन्दन घिसने आदि के बहाने बार-बार ऊपर आना-जाना करता था। मैंने उसे डाँट दिया।

मैं—जो वेदान्तवादी साधु हैं, वे क्या सब निर्वाण प्राप्त करेंगे ?

माँ—अवश्य। माया को काट लेने से निर्वाण होगा—भगवान् के साथ वे लोग एकरूप हो जाएँगे। वासना के

कारण ही शरीर है। थोड़ी सी वासना नहीं रहने से शरीर रहता नहीं। एकदम वासनाशून्य होने से तो सब खतम।

"कोई लड़का आया, खाया पिया, चला गया। उस पर माया कैसी? हाजरा ने ठाकुर से कहा था, 'आप नरेन-नरेन कहकर इतनी चिन्ता क्यों करते हैं? वे लोग तो मजे से खाते-पीते और रहते हैं। आप भगवान् के चिन्तन में मन लगाएँ। आपको यह माया क्यों?' ठाकुर ने उसके कहने पर सारी माया काटकर भगवान् में मन लगा दिया। उनकी दाढ़ी के बाल, सिर के बाल कदम फूल की कील जैसे ऐसे (दिखाकर) खड़े हो गये। एक बार सोचकर तो देखो वे कैसे व्यक्ति थे! एक बार जब वे शौच के लिए गये थे तो रामलाल उन्हें शौच नहीं करा सका। शौच कराता भी किसको? उनका सारा शरीर जड़वत्, लकड़ी-जैसा कड़ा हो गया था। तब रामलाल कहने लगा, 'जैसे थे वैसे हो जाओ, जैसे थे वैसे हो जाओ।' इस प्रकार कहते रहने पर तब कहीं उनका मन शरीर पर उतरा। कृपावश हो वे मन को उतारकर रखते थे।

"योगीन (योगानन्द) ने जब शरीर त्यागा, तो उसने निर्वाण की आकांक्षा की। गिरीशबाबू ने कहा, 'देख योगेन, निर्वाण मत चाहना, मत चाहना। ठाकुर को इस विराट् रूप में मत सोच कि ठाकुर विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, सूर्य-चन्द्र उनके नेत्र हैं; बल्कि ठाकुर जैसा थे, वैसा ही उनका चिन्तन करते हुए, उनके पास चला जा।'

"चाहे देवता कहो या जो कहो—सब आकर पृथ्वी में जन्म लेते हैं। सूक्ष्म देह में तो खाना-पीना, बातचीत आदि कुछ होती नहीं, इसीलिए वहाँ अधिक दिन नहीं रह पाते हैं।"

मैं—यदि खाना-पीना, वार्तालाप आदि न हो तो वे क्या लेकर समय बिताते हैं ?

माँ—वे जो जहाँ पर हैं, काठ के पुतले की भाँति युग-युगान्तर से वहीं हैं। जैसा रामेश्वर में मैंने देखा था—राजाओं की पत्थरों की मूर्तियाँ पोशाक पहनी हुई रखी हैं। भगवान् को जब आवश्यकता होती है, तब वहाँ से ले आते हैं। बहुत से देवलोक हैं तो—जनलोक सत्यलोक, ध्रुवलोक आदि। ठाकुर कहते थे कि वे स्वामीजी (विवेकानन्द) को सप्तर्षियों में से लाये थे। उनकी बातें वेदवाक्य जो हैं, असत्य नहीं हो सकतीं।

मैं—तब क्या हम लोगों को भी काठ-माटी के पुतलों के जैसा होकर रहना होगा ?

माँ—नहीं, तुम लोग उनकी सेवा करोगे। दो प्रकार के लोग हैं—एक तो वे, जो यहाँ की भाँति भगवान् की सेवा को लेकर हैं और दूसरे वे, जो पुतले के समान युग-युगान्तर से ध्यान में मग्न हैं।

मैं—माँ, ठाकुर कहते थे जो ईश्वर-कोटि जीव है, वह निर्वाण के बाद भी लौट आता है, पर दूसरे नहीं लौट पाते; इसका क्या अर्थ है ?

माँ—जो ईश्वर-कोटि है, वह निर्वाण के बाद भी मन को बटोरकर ला सकता है।

मैं—जो मन लीन हो चुका है, वह फिर किस प्रकार लौट आता है ? तालाब में एक घड़ा पानी डालने के पश्चात् उसी पानी को अलग करके कैसे लाया जा सकता है ?

माँ—सब नहीं कर सकते। जो परमहंस हैं, वे ही कर पाते हैं। हंस को यदि पानी और दूध मिलाकर दो, तो वह दूध को अलग करके पी लेगा।

मैं--क्या सभी वासनारहित हो सकते हैं ?

माँ--यदि ऐसा होता, तब तो सृष्टि ही खत्म हो जाती। ऐसा सम्भव नहीं है इसीलिए यह सृष्टि चल रही है। लोग बार-बार जन्म लेते हैं।

मैं--यदि गंगा में देह-त्याग हो तो ?

माँ--वासना समाप्त होने से ही काम बनता है, अन्यथा किसी प्रकार कुछ नहीं होता। यदि वासना समाप्त न हो तो यह अन्तिम जन्म होने से भी क्या होगा ?

मैं--माँ, इस अनन्त सृष्टि में कहाँ क्या हो रहा है यह कौन जाने ? इन असंख्य ग्रह-नक्षत्रों में किसी जीव का निवास है या नहीं, यह कौन बता सकता है ?

माँ--माया के राज्य में सर्वज्ञ होना एकमात्र ईश्वर के लिए ही सम्भव है। उन सब ग्रह-नक्षत्रों में किसी जीव का निवास नहीं है।

इसी वर्ष वर्षाकाल में एक दिन पूज्य शरत् महाराज, योगीन-माँ तथा कुछ भक्त जयरामवाटी से कामारपुकुर गये थे। वहाँ गिर पड़ने से योगीन-माँ के शरीर के कई भागों से रक्त निकलने लगा। मैंने पहले लौटकर माँ को योगीन-माँ की घटना सुनायी। सुनकर वे दुखित हो कहने लगीं, "गोलाप ने कहा था, 'योगेन जा तो रही है, देखें कितना गिर-पड़कर आती है।' उसकी इसी बात को रखने के लिए योगेन गिरकर आयी। साधु की वाणी है तो ? वह जप-तप करती है, इसलिए उसके कथन का फल हुए बिना नहीं रहता। इसीलिए साधुओं को कुछ कहना नहीं चाहिए।"

उद्बोधन : माँ का कमरा, १६-१-१९१२, प्रातःकाल

मैंने कहा, "माँ, चैतन्यदेव ने नारायणी को आशीर्वाद दिया था, 'नारायणी, तुम्हारी कृष्ण के प्रति भक्ति हो।' तीन-चार साल की लड़की तुरन्त 'हे कृष्ण' कहकर धूल में लोट-पोट करने लगी। एक कहानी है कि सिद्धिलाभ के पश्चात् नारद को एक चींटी देखकर अचानक दया हो आयी। वे सोचने लगे, 'देखो तो, मुझे कितने जन्मों की तपस्या के पश्चात् सिद्धिलाभ हुआ है और इस चींटी को तो मनुष्य बनने में ही बहुत देर है।' दया के वशीभूत हो उन्होंने चींटी को आशीर्वाद दिया, 'जा, मुक्त हो जा, मुक्त हो जा।' शीघ्र ही वह चींटी पशु-पक्षी आदि विभिन्न प्राणियों की देह धारण करके अन्त में मनुष्य हुई। अनेक जन्मों तक मनुष्य-देह में भोग करने के पश्चात् क्रमशः उसकी तपस्या में गति हुई और वह भगवान् की आराधना करके मुक्त हो गयी। इन सब असंख्य जन्मों का खेल नारद की आँखों के सामने एक मुहूर्त में हो गया। अतः महापुरुष की कृपा होने से तो मुक्ति जब कभी भी हो सकती है।"

माँ—वैसा होता है।

मैं—पर मैंने सुना है कि दूसरे के पाप का बोझ लेने पर शरीर टिकता नहीं। जिस शरीर से बहुतों का उद्धार होता, वह एक के उद्धार में ही समाप्त हो जाता है।

माँ—हाँ, उनकी शक्ति भी कम हो जाती है। जिस साधन-तपस्या द्वारा बहुतों का उद्धार होता, वह एक व्यक्ति में ही खतम हो जाता है। ठाकुर कहते थे 'गिरीश के पाप को ग्रहण करने के कारण ही शरीर में रोग हुआ है।' अब गिरीश भी भुगत रहा है।

मैं——माँ, मैंने एक दिन स्वप्न देखा कि एक व्यक्ति जिसके सिर पर घुँघराले बाल हैं, आकर तुमसे बहुत जिद कर रहा है कि तुम तुरन्त ही उसका कुछ कर दो। उसने तुमसे मन्त्र लिया है, पर स्वयं होकर कुछ भी साधन-भजन नहीं करता। तुम कहने लगीं, 'यदि मैं इसका कुछ कर दूँ तो फिर मैं बचूँगी नहीं, मेरा शरीर नहीं रहेगा।' मैं दोनों हाथों से तुम्हें मना करने लगा और कहने लगा, 'उसके लिए क्यों करना ? वह साधन करे तो स्वयं ही अपनी मुक्ति कर पाएगा।' उसके बार-बार इस प्रकार कहने पर तुम मानो तंग आकर उसकी छाती तथा गर्दन का स्पर्श कर कुछ करने लगीं और यही कहती रहीं, 'इसको यदि मैं अभी कुछ कर दूँ तो फिर मैं बचूँगी नहीं, मेरा शरीर नहीं टिकेगा।' इतने में स्वप्न टूट गया। अच्छा, शरीर धारण करने से क्या शक्ति सीमाबद्ध हो जाती है ?

माँ——हाँ, यह होता है। किसी कसी व्यक्ति के परेशान करने से ऐसी तंग आ जाती हूँ कि कई बार लगता है यह शरीर तो जाएगा ही, तब चला जाय न, उसे अभी ही (मुक्ति) दे दूँ।

मैं——माँ, ईश्वर-दर्शन का तात्पर्य ज्ञान-चैतन्य की प्राप्नि है या और कुछ ?

माँ——ज्ञान-चैतन्य की प्राप्ति के अतिरिक्त और क्या ? और नहीं तो क्या दो सींग निकलेंगे ?

मैं——इन लोगों का (यहाँ के बहुत से भक्तों का) भगवद्दर्शन से तात्पर्य दूसरा है——उन्हें आँखों से देखना, उनसे बातचीत करना।

माँ——बस, यही रट है——'पिता के दर्शन कराओ, पिता के दर्शन कराओ।' वे (ठाकुर) ऐसे किसी के पिता

नहीं हैं। 'गुरु', 'कर्ता' और 'पिता'—इन तीन सम्बोधनों से मानो उनके शरीर में काँटे चुभ जाते थे। कितने ऋषि-मुनि युग-युगान्तर तक तपस्या करके भी पा नहीं सके, और इधर देखो तो न साधन है न तपस्या; बस, रट लगा रखी है—अभी ही दर्शन करा दो। मुझसे यह सब होगा नहीं। उन्होंने (ठाकुर) किसको दर्शन कराया है, बोलो तो ?

माँ—अच्छा माँ, कोई चाहता है पर पाता नहीं और कोई चाहता नहीं है, उसे वे देते हैं। इसका क्या अर्थ है ?

माँ—ईश्वर बालक-स्वभाव के हैं तो! कोई चाहता है, उसे वे देते नहीं। और कोई नहीं चाहता है, उसे जोर करके देते हैं। हो सकता है वह पूर्व जन्म में बहुत आगे बढ़ा रहा हो। इसलिए उसके ऊपर कृपा हो गयी।

मैं—तब तो कृपा के लिए भी सोच-विचार है ?

माँ—हाँ, अवश्य है। जिसके जैसे कर्म। कर्म के समाप्त होने पर ही भगवान् के दर्शन होते हैं। वही अन्तिम जन्म है।

मैं—माँ, ज्ञान-चैतन्य की प्राप्ति के लिए मैं साधन, कर्मों का क्षय, समय इन सबकी आवश्यकता को स्वीकार करता हूँ। पर यदि सचमुच ही ईश्वर नितान्त अपने हुए, तब क्या वे इच्छा मात्र से ही दर्शन नहीं दे सकते ?

माँ—सही बात है, पर जिस तरह तुमने इस सूक्ष्म वस्तु को समझा है, वैसा और किसने समझा है ? सब लोग 'कुछ करना चाहिए' ऐसा सोचकर किये जाते हैं, ईश्वर को भला कितने लोग चाहते हैं ?

मैं—मैंने एक दिन तुमसे कहा था कि बेटे को यदि

अपनी माँ का स्नेह-प्यार न मिले, तो वह माँ को भी माँ कहकर नहीं जानेगा ।

माँ--ठीक कहते हो । देखे बिना प्रेम भला आये कहाँ से ? तुम्हारे साथ यह भेंट हुई, तब तो तुमने जाना कि मैं तुम्हारी माँ हूँ और तुम मेरे बेटे !

उद्बोधन : १-२-१९१२

आज रात को करीब साढ़े नौ बजे मैं माँ के पास पहुँचा । सारे दिन गया नहीं था इसलिए माँ ने पूछा, "आज तुम कहाँ थे ?"

मैं--नीचे हिसाब-किताब में फँसा हुआ था ।

माँ--प्रकाश वही कह रहा था । जिसने त्याग किया है, उसे यह सब क्या अच्छा लगता है ? ठाकुर की मासिक तनखा के हिसाब में कुछ गड़बड़ी हुई थी, पैसा कुछ कम दिया गया था । मैंने उनसे जाकर खजांची को बताने के लिए कहा तो बोले, 'छि: छि: ! मुझे हिसाब करना होगा ?'

"ठाकुर ने मुझसे कहा था, 'जो उनका नाम लेता है, उसका कोई दुःख बाकी नहीं रहता, फिर तुम्हारी क्या बात ?' यह उनके अपने मुँह की बात है । त्याग ही उनका भूषण था ।"

उद्बोधन : ८-२-१९१२

ठाकुरघर के पास के कमरे के उत्तरी छोर में चटाई अथवा कम्बल बिछा दी जाती थी । माँ सबेरे के समय यहाँ पर काफी देर तक बैठती थीं । कभी कभी पूर्व की ओर मुँह करके जप करती थीं । हम लोग जब उस कमरे में माँ के साथ बातचीत करते, तब प्रायः वहीं बैठते थे । आज भी माँ उसी स्थान पर बैठी हैं ।

मैं—माँ, तुम दक्षिणेश्वर में कितने दिनों तक थीं ?

माँ—वैसे बहुत दिनों तक थी । सोलह साल* की उम्र में आयी थी । तब से लगातार रही । बीच बीच में घर जाती थी । रामलाल के विवाह के समय गयी थी । दो-तीन साल के अन्तर से जाती थी ।

मैं—तुम अकेली रहती थीं ?

माँ—कभी कभी अकेली ही रहती थी । मेरी सास रहा करती थीं । बीच बीच में गोलाप, गौरदासी ये लोग सब आकर रहते थे । इतना सा तो घर था, उसी में रहना, पकाना, खाना सभी कुछ । ठाकुर का खाना बनता था । उन्हें तो प्रायः ही पेट की गड़बड़ी रहती । काली का प्रसाद सहन नहीं होता था । फिर, दूसरे सब भक्तों का खाना बनता था । लाटू राम दत्त के साथ झगडा करके आया था । ठाकुर ने कहा, 'यह लडका अच्छा है, यह तुम्हारा आटा गूँध देगा ।' दिनरात रसोई बनती रहती । लो अभी राम दत्त आया । गाड़ी से उतरते ही कहता, 'आज चने की दाल और रोटी खाऊँगा ।' मैं सुनते ही रसोई चढ़ा देती । तीन-चार सेर आटे की रोटी बनती थी । राखाल रहता था । उसके लिए प्रायः खिचडी बनती । एक दिन ठाकुर ने नरेन के लिए बढ़िया खाना बनाने के लिए कहा । मैंने मूँग दाल और रोटियाँ बनायीं । खाना होने पर ठाकुर ने नरेन से पूछा, 'भोजन कैसा लगा ?' नरेन बोला, 'था तो अच्छा, पर रोगी के पथ्य जैसा लगा ।' इस पर ठाकुर मुझसे बोले, 'तुमने

* वस्तुतः १८ वर्ष । वे मार्च १८७२ में पहली बार दक्षिणेश्वर आयी थीं ।

इसके लिए वह क्या पकाया ? इसके लिए तो चने की गाढ़ी दाल और मोटी रोटियाँ बनाना ।' मैंने ऐसा ही किया । नरेन को बहुत अच्छा लगा । सुरेन मित्तिर हर महीने भक्त-सेवा के लिए दस रुपया देता था । बूढ़ा गोपाल सामान खरीदी करता था । नृत्य, गीत, कीर्तन, भावसमाधि यह सब दिनरात चलता ही रहता । सामने बाँस की चटाई का परदा लगाया हुआ था । उसी में छेद करके मैं खड़ी खड़ी देखा करती थी । इसी से पैरों को वातरोग हो गया ।

"यदु की माँ नाम की एक नौकरानी कुछ दिनों तक थी । पहले उसका चालचलन ठीक नहीं था । अब बूढ़ी हो गयी थी, सो भगवान् का नाम लेती । मैं अकेली थी । जब भी वह आती, मैं उसके साथ बातचीत करती । एक दिन ठाकुर ने देखकर कहा, 'वह यहाँ क्यों ?' मैंने कहा, 'वह तो अब अच्छी बात ही करती है, हरि-चर्चा करती है, दोष क्या है ? मनुष्य के मन में सब समय तो पहले के भाव नहीं रहते ।' वे बोले, 'छिः छिः ! हजार हो पर है वह वेश्या--उसके साथ क्या बातचीत ? राम राम !' बाद में कहीं कोई दुर्बुद्धि न दे दे इसी डर से वे ऐसे लोगों से बातचीत करने से मना करते थे । मेरी रक्षा के प्रति वे इतने सजग थे ।

"कामारपुकुर में एक व्यक्ति उनसे मिलने के लिए आया था । आदमी अच्छा नहीं था । उसके चले जाने के बाद ठाकुर ने कहा, 'अरे फेंक दे, फेंक दे, वहाँ से एक टोकरी मिट्टी निकालकर फेंक दे ।' किसी के न फेंकने पर उन्होंने स्वयं कुदाल ले तेजी से वहाँ पर कुछ मिट्टी खोदी और फेंककर तब छोड़ा और कहा, 'ऐसे लोग जहाँ

बैठते हैं, वहाँ की मिट्टी तक अशुद्ध हो जाती है !'

"पूर्व बंग का दुर्गाचरण (नाग महाशय) आता था। उसकी कैसी अपूर्व गुरु-भक्ति थी। ठाकुर की अस्वस्थता के समय वह तीन दिनों तक आँवला खोजता रहा और लेकर ही आया। ये तीन दिन न उसे भूख का होश, न नींद का। एक बार मैंने उसे शाल के पत्ते में प्रसाद दिया (बागबाजार में गंगा के किनारे के गोदामवाले घर में)। वह प्रसाद के साथ पत्ते को भी खा गया। उसका चेहरा काला तथा सूखा हुआ था। केवल दोनों आँखें बड़ी तथा उज्ज्वल थीं। प्रेम की आँखें थीं, सब समय प्रेमाश्रुओं से भीगी रहतीं।

"तब सब कैसे भक्त थे। अब जो आ रहे हैं, उनकी तो बस यही रट है 'ठाकुर को दिखा दो।' साधन नहीं, भजन नहीं, जप-तप कुछ नहीं, जन्म-जन्मान्तरों में जाने कितना क्या किया है—कितनी गो-हत्याएँ, ब्रह्म-हत्याएँ, भ्रूण-हत्याएँ की हैं ! वह सब क्रमशः कटेगा तभी तो होगा ? आकाश में चाँद को मेघ ने ढक रखा है। जब धीरे धीरे हवा से बादल छँट जाएँगे तभी न चाँद को देख पाओगे। मेघ एकदम से ही क्या दूर हो जाते हैं ? यहाँ भी वही बात है।

"धीरे धीरे कर्मों का क्षय होता है। भगवान्-लाभ होने से वे भीतर ही भीतर ज्ञान-चैतन्य देते हैं—यह वह स्वयं जान पाता है।"

O

(क्रमशः)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम.ए.

(१) गुरु अमृत की खान

जब छत्रपति शिवाजी को यह पता चला कि समर्थ रामदासजी ने महाराष्ट्र के ग्यारह स्थानों में हनुमान्‌जी की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की है और वहाँ हनुमान्-जयन्ती उत्सव मनाया जाने लगा है, तो उन्हें उनके दर्शन की उत्कट अभिलाषा हुई। वे उनसे मिलने के लिए चाफल, माजगाँव होते हुए शिगड़वाड़ी आये। वहाँ समर्थ एक बाग में वृक्ष के नीचे 'दासबोध' लिखने में मग्न थे।

शिवाजी ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और उनसे अनुग्रह की विनती की। समर्थ ने उन्हें त्रयोदशाक्षरी मंत्र देकर अनुग्रह किया और 'आत्मानाम' विषय पर गुरूपदेश दिया। (यह 'लघुबोध' नाम से प्रसिद्ध हैं और 'दासबोध' में समाविष्ट है।) फिर उन्हें श्रीफल, एक अंजलि मिट्टी, दो अंजलियाँ लीद एवं चार अंजलियाँ भरकर कंकड़ दिये। जब शिवाजी ने उनके सान्निध्य में रहकर लोगों की सेवा करने की इच्छा व्यक्त की, तो सन्त बोले, "तुम क्षत्रिय हो, राज्य-रक्षण और प्रजा-पालन तुम्हारा धर्म है। यह पृथ्वी म्लेच्छमयी हो गयी है और उनका निर्मूलन तुमसे होना चाहिए, यह रघुपति की इच्छा दिखाई देती है।" और उन्होंने 'राजधर्म' एवं 'क्षात्रधर्म' पर उपदेश दिया।

शिवाजी जब प्रतापगढ़ वापस आये और उन्होंने जीजामाता को सारी बात बतायी, तो उन्होंने पूछा, "श्रीफल, मिट्टी, कंकड़ और लीद का प्रसाद देने का क्या प्रयोजन है?" शिवाजी ने बताया, "श्रीफल मेरे कल्याण का प्रतीक है, मिट्टी देने का उद्देश्य पृथ्वी पर मेरा आधिपत्य होने से है, कंकड़ देकर यह कामना व्यक्त की गयी है

कि अनेक दुर्ग अपने कब्जे में कर पाऊँ, और लीद अस्तबल का प्रतीक है, अर्थात् उनकी इच्छा है कि असंख्य अश्वाधिपति मेरे अधीन रहें ।"

(२) हारिए न हिम्मत

पंजाब-केसरी महाराजा रणजीतसिंह को जब गुप्तचरों से समाचार मिला कि कबाइलियों का दल राज्य की सीमा में प्रवेश कर गया है और शहर में लूटमार मचा रहा है, तो महाराज ने तुरन्त सेनापति को बुलाया और डाँटते हुए पूछा, "कबाइलियों का दल पेशावर तक पहुँच गया है । आप उसकी रक्षा क्यों नहीं कर सके ?" सेनापति ने झिझकते हुए उत्तर दिया, "महाराज, तब पेशावर में हमारे केवल १५० सैनिक थे और कबाइलियों की संख्या १५०० थी । इस हालत में उनसे मुकाबला करना कोई मायने नहीं रखता था ।" इस उत्तर से महाराज की भौंहें तन उठीं । तत्क्षण घोड़े पर सवार हो उन्होंने अपने साथ १५० सैनिक लिये और पेशावर जा पहुँचे । फिर लुटेरे कबाइलियों पर टूट पड़े । उनकी वीरता और तलवारबाजी के आगे कबाइली ज्यादा देर न टिक सके और भाग खड़े हुए ।

उन्हें खदेड़कर राजधानी में वापस आने के बाद महाराज ने सेनापति को बुलाकर पूछा, "कितने सैनिक थे मेरे पास ?"

सेनापति ने सिर झुकाकर जवाब दिया, "१५० सैनिक, महाराज !"

"और कबाइली कितने थे ?"

"जी ! वे १५०० थे," लज्जापूर्वक धीमे स्वर में उसने जवाब दिया ।

"लेकिन वे फिर भी भाग गये ! ऐसा क्यों ?"

"जी, आपकी बहादुरी और दृढ़ संकल्प के कारण।"

"नहीं, मेरी बहादुरी नहीं, हमारी बहादुरी कहो। क्या आपको नहीं मालूम कि हमारा एक वीर जवान दुश्मन के सवा लाख सैनिकों के बराबर है? रक्षा करनेवाले एक सिपाही की ताकत हमला करनेवाले सवा लाख सिपाहियों की ताकत के बराबर होती है। इसका अनुभव हो गया न आपको? वास्तव में आपकी अपनी हिम्मत पस्त हो गयी थी, फिर सिपाहियों पर आप कैसे भरोसा करते?" सेनापति को हामी भरनी ही पड़ी, क्योंकि उसे अब इसकी प्रतीति हो गयी थी।

(३) पच्छपात ना कीजिए

रामशास्त्री प्रभुणे का पेशवा बड़ा आदर करते थे और राजकाज में उनकी बराबर सलाह ली जाती थी। दानाध्यक्ष का भार भी उन्हें ही सौंपा गया था।

एक बार वे भिक्षुकों को दक्षिणा बाँट रहे थे कि आगन्तुकों में उन्हें उनके सगे भाई दिखाई दिये। जब उनकी बारी आयी, तो समीप बैठे नाना फड़नवीस ने कहा, "मैं समझता हूँ, आपको अपने बन्धु को बीस रुपये दक्षिणा देनी चाहिए।"

"मेरे भाई कोई विशेष विद्वान् नहीं, साधारण ही हैं। इसलिए दूसरे ब्राह्मण की तरह इन्हें भी दो रुपये देना ही ठीक होगा। रामशास्त्री के पास भाई-भतीजे के लिए किसी प्रकार के पक्षपात की कतई गुंजाइश नहीं है।" —रामशास्त्री ने स्पष्ट जवाब दिया।

नाना फड़नवीस चुप हो गये, क्योंकि वे रामशास्त्री के करारी और दृढ़निश्चयी स्वभाव से भलीभाँति परिचित थे। रामशास्त्री ने भाई को दो रुपये दिये और वे भी उसे

लेकर चुपचाप चलते बने।

(४) स्वधर्मे निधनं श्रेयः

ओरछानरेश मधुकर शाह मुगल बादशाह अकबर के समकालीन थे और उन्हें सम्राट् के दरबार में हमेशा जाना पड़ता था। वे अपने माथे पर लम्बा तिलक लगाया करते थे। एक दिन बादशाह की दृष्टि उनके लम्बे तिलक पर पड़ी, तो उन्होंने आदेश दिया कि दरबार में तिलक लगाकर कोई भी न आया करे। जहाँ दूसरे हिन्दू दरबारियों ने इस आदेश को चुपचाप सुन लिया, वहाँ मधुकर शाह ने इसे अपनी धार्मिक स्वतंत्रता पर आघात माना। वे उस समय तो चुप रहे, लेकन दूसरे दिन पहले की अपेक्षा ज्यादा गाढ़ा तिलक लगाकर दरबार में आये। बादशाह ने जो देखा, तो समझ लिया कि गाढ़ा तिलक जान-बूझकर लगाया गया है। उनकी भौंहें तन गयीं और उन्होंने डाँटते हुए पूछा, "मालूम होता है, आपने मेरा कल का आदेश नहीं सुना था। आप कल से ज्यादा गाढ़ा और चमकीला तिलक लगाकर आये हैं, इसका मतलब यह है कि आप विद्रोह करने पर उतारु हैं।"

मधुकर शाह ने नम्रता से जवाब दिया, "बादशाह-सलामत मेरी राजभक्ति और वफादारी से भलीभाँति परिचित हैं। राजभक्ति को मैं अपना धर्म समझता हूँ और आपकी रक्षा के लिए अपने प्राण देने के लिए भी तैयार हूँ। लेकिन मेरे लिए राजधर्म से भी बड़ा धर्म है--स्वधर्म, और उसका पालन करना मैं अपना परम कर्तव्य मानता हूँ। माथे पर तिलक लगाना मेरे धर्म का एक प्रमुख अंग है और उसे, आपका आदेश ही क्यों न हो, मैं किसी भी हालत में छोड़ नहीं सकता। फिर इसके लिए मुझे

कितना भी कठोर दण्ड क्यों न भुगतना पड़े, मैं तैयार हूँ।"

इस निर्भीक और स्पष्ट जवाब को सुन सारे दरबारी स्तब्ध रह गये। बादशाह ने ऊँचे स्वर में कहा, "भई, वाह मधुकर शाह! आपके इस आचरण से मैं बेहद खुश हूँ। मैं यही देखना चाहता था कि अपने धर्म के प्रति आप में से कौन कितना पक्का है। धर्म के प्रति आपकी इस निष्ठा से मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैं आदेश देता हूँ कि आप जो यह लम्बा तिलक लगाते हैं, वह आज से 'मधुकर शाही' तिलक कहलाएगा।"

एक कवि ने इस प्रसंग को काव्यबद्ध कर उसका वर्णन इस प्रकार किया है--

हुकुम दियो है बादशाह ने महीपत को
राजा, राव, राना सो प्रमान लेखियत है।
चंदन चढ़ाया कहूँ, देव-पद बंदन कौ,
दैहों सिर दाग जहाँ रेखा रेखियत है॥
सूनौ करि गये भाल छोड़ि छाड़ि कंठमाल,
दूसरो दिनेस और कौन देखियत है।
सोहत टिकैत मधुसाह गनियारो इमि
नागन के बीच मनियारो पेखियत है॥

(५) साईं सूँ सब होत है

राव जगतसिंह जोधपुर के प्रथम महाराजा जसवन्तसिंह के वंशज थे और रिश्ते में भक्तिमती मीराबाई के भतीजे लगते थे। बलूँदा रियासत के वे शासक भी थे। वे वैष्णव भक्त थे और राजसी ठाट-बाट छोड़कर सदैव भगवद्भजन में लीन रहते थे। मेवाड़ में उन्होंने एक मन्दिर का निर्माण भी किया था।

एक बार वर्षाकाल में एक दिन भारी वर्षा हुई।

चारों ओर घना अन्धकार छाया रहा और लोगों को सूर्य भगवान् के दर्शन दुर्लभ हो गये। लेकिन उस समय जोधपुर के अनेक नर-नारियों ने सूर्यदेवता का दर्शन किये बिना भोजन न करने का व्रत धारण कर रखा था। उन्हें जब सूर्यदेवता के शीघ्र उदय होने की उम्मीद न रही, तो वे चिन्तित हो गये। आखिर कुछ लोग जोधपुर-नरेश के पास गये और उनसे विनती की, "महाराज, हमारे लिए तो आप ही सूर्य हैं। यदि आप हाथी पर सवार हो सबको दर्शन दें तो लोग भोजन कर सकेंगे।" महाराज ने कहा, "बात तो ठीक है, मैं लोगों को दर्शन दूँगा, मगर मैंने भी यह व्रत धारण कर रखा है और मेरे लिए भी सूर्य भगवान् के दर्शन करना आवश्यक है। उनके उदित न होने से मैं किसके दर्शन करूँ?" अकस्मात् उन्हें राव जगतसिंहजी का ख्याल आया और वे उनके पास गये।

जगतसिंह उस समय श्री श्यामसुन्दरजी की पूजा कर रहे थे। पूजा समाप्त होने पर जब नरेश ने अपने आने का प्रयोजन बताया, तो उन्हें बड़ा संकोच हुआ कि उन्हें सूर्यदेवता का-सा सम्मान दिया जाएगा। भगवान् की श्रेणी में अपनी गणना किया जाना उन्हें उचित न लगा। उन्होंने कोई जवाब न दिया और वे सूर्य भगवान् की लोगों को दर्शन देने के लिए कातर भाव से प्रार्थना करने लगे। भगवान् भुवनभास्कर ने उनकी प्रार्थना सुनी और बादलों को चीरकर वे प्रकट हो गये। उनके दर्शन से लोगों को हर्ष हुआ और उन्होंने अपने को कृतार्थ माना। जगतसिंहजी की प्रार्थना का यह फल देख लोग चकित रह गये और उन्होंने उनका जय-जयकार किया।

○

प्रो० रा. द. रानडे : आत्मसाक्षात्कार-दर्शन

श्रीमती शोभना जोशी

(३९/ए-६, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-६३)

हरि दरिया सूभर भरा, साधो का घट सीप।
तामे मोती नीपजै, चढ़ै देसावर दीप।।

—'चारों ओर भरे हुए हरिरूप समुद्र में साधु का घट सीप है। उसमें (बिन्दुरूप या नामरूप) मोती उत्पन्न होता है, जिसका मोल अन्य देशों में और अन्य द्वीपों में चढ़ता है।'

प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे ऐसे ही एक असाधारण सीप थे, जिसमें से हरिरूपी मोती उत्पन्न हुआ और देश-विदेश में उसे कीर्ति प्राप्त हुई। रानडेजी प्रकाण्ड पण्डित थे, यशस्वी ग्रन्थकार थे, विख्यात प्राध्यापक थे, लेकिन यह उनका यथार्थ वर्णन नहीं है। वे कोरे पण्डित नहीं थे, किन्तु समाधि की गहराई में पहुँचकर अनुभूतियों के मोती पानेवाले एक सिद्ध मुनि थे। उन्हें देखने से श्रीमद्भागवत में वर्णित आत्मप्रकाशप्राप्त ऋषियों की भावनाओं का, उक्तियों का और कृतियों का स्मरण होता था। उनकी अमृतवाणी और पैनी अन्तर्दृष्टि उनके ब्रह्मास्वाद की परछाईं थी, जिसे देखकर लोग अवाक् रह जाते थे। फिर उनकी प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ कैसी रही होंगी यह कौन बता सकता है? उनकी आत्मानुभूतियों का लेखा-जोखा पूरी तरह से जानना तो सम्भव नहीं है, लेकिन साधना-काल में उन्होंने जिन अनुभूतियों का वर्णन अपने निकट के गुरु-बन्धुओं के पास किया था, वह आज भी मुमुक्षुओं को राह दिखा सकता है।

ईश्वर-भक्ति मानव-जीवन का एक ऐसा पहलू है, जो अनेक जन्मों की पुण्याई से ही प्राप्त होता है। बचपन से ही बालक रामचन्द्र का झुकाव ईश्वर के प्रति था। नदी, पहाड़, वृक्ष देख अनजाने में वह उसे नमस्कार करता। निश्चय ही वह प्रकृति के पीछे छिपे हुए उसके निर्माता को देखने की चेष्टा करता और भावमग्न हो अपने आपको भूल जाता था। ऐसी भक्तियुक्त मनोभूमि में श्री भाऊ-साहेब महाराज ने सबीज मंत्र बोया, जिस पर रानडेजी ने साधनारूपी जलसिंचन किया और परिणामस्वरूप उनकी जीवनवल्ली पर आत्मानुभूतियों की बहार आयी।

सद्गुरु-प्राप्ति का सौभाग्य रानडेजी को पन्द्रह वर्ष की आयु में ही मिल चुका था। उनकी तपस्या बचपन में ही अंकुरित हुई; किन्तु पहले वह सकाम थी। एक दिन राम अपने मित्र के साथ श्री भाऊसाहेब महाराज का प्रवचन सुनने गये। राम को परमार्थ के प्रति आकर्षित करने के लिए श्री महाराज ने कहा, "ईश्वर का नाम-स्मरण करने से परीक्षा में भी उत्तम यश मिलता है।" महाराज के इस वचन की सत्यता परखने के लिए राम ने जगन्नाथ शंकर शेठ शिष्यवृत्ति की कामना से नियमित रूप से जप किया। उनके भोले भाव से किये इस संकल्प को ईश्वर ने पूरा किया और राम को सचमुच जगन्नाथ शंकर शेठ छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। इस घटना से उनकी अपने सद्गुरु श्री भाऊसाहेब महाराज और उनके द्वारा दिये मंत्र के प्रति श्रद्धा दृढ़ हो गयी। रानडेजी बचपन की इस घटना को दोहराते हुए कहते थे कि साधक की भक्ति प्रथमतः सकाम ही क्यों न हो, उसकी अन्तिम परिणति निष्काम में ही होनी चाहिए—'आप्तकामः अवाप्तकामः। पूर्ण-

कामः निष्कामो भवति ।'

साधना के प्रथम चरण में ही रानडेजी एक बैरागी के रूप में प्रतीत होते । मित्रमण्डली में होनेवाली गपशप, नाटक या सिनेमा आदि प्रलोभन उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सके । उन्हें तो पढ़ाई और ईशभक्ति से ही मतलब था । अब वे अपने आध्यात्मिक गुरु श्री भाऊसाहेब महाराज के उपदेशों के अनुसार श्रद्धापूर्वक साधना में लग गये । रानडेजी की साधना और उसका फल उनके जीवन के अन्तिम चरण तक बढ़ता ही दिखाई देता है । उनके आत्म-साक्षात्कार का श्रीगणेश डेक्कन कालेज के पवित्र वाता-वरण में हुआ । अपनी पढ़ाई से बचाकर जो समय वे आत्मचिन्तन में लगाया करते, उसके फलस्वरूप उन्हें जो अनुभूतियाँ हुईं, वे उल्लेखनीय हैं ।

एक दिन रानडेजी दोपहर को डेक्कन कालेज के मैदान पर क्रिकेट का मैच देख रहे थे । अचानक अखिल नभोमण्डल तेजस्वी बिन्दुओं से व्याप्त दिखाई देने लगा । 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं'—वे इस दिव्य अनुभूति को देख स्तम्भित से रह गये । उन्हें कुछ देर तक जहाँ-तहाँ तेजस्वी बिन्दु ही नजर आने लगे । इस अनुभूति के आधार पर उन्होंने 'विश्व का मध्यबिन्दु' नामक निबन्ध लिखा । उसमें वे कहते हैं, "The universe is but an infinite circle, with its centre everywhere and circum-ference nowhere" (विश्व एक अनन्त वृत्त के समान है, जिसका केन्द्र हर जगह है पर जिसकी परिधि कहीं नहीं है)।

रानडेजी और प्रो० वुडहाउस में कई बार आध्यात्मिक विषय पर चर्चा होती थी । ऐसे ही एक दिन दोनों कालेज

के 'सार्टर-रिसार्टस' (Sartor Resartus) की परिचर्चा में डूबे हुए थे। अचानक सामने आलन्दी की ओर जानेवाली सड़क पर रानडेजी के ज्ञानचक्षु को अग्नि की विशाल ज्वाला दिखाई देने लगी। वे आत्मविभोर हो गये। आश्चर्य की बात, उनके साथ सभी उपस्थित लोगों को भी उस अनलरूप परमात्मा के दर्शन हुए। इस दिव्याग्नि के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए रानडेजी खड़े हो गये। देखते ही देखते वह दिव्याग्नि अदृश्य हो गयी।

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में प्रगतिशील साधक को होनेवाली आत्मानुभूतियों का एक आलेख-सा दिया है, जिसका रानडेजी ने अपने साधनाकाल में अनुभव किया—

नीहारधूमार्कानिलानलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥२/११॥

—'परमात्मा की प्राप्ति के लिए किये जानेवाले योग में (पहले) कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु और अग्नि के सदृश (तथा) जुगनू, बिजली, स्फटिक मणि और चन्द्रमा के सदृश बहुत से दृश्य योगी के सामने प्रकट होते हैं। ये सब योग की सफलता को स्पष्ट रूप से सूचित करनेवाले हैं।'

१९०८ ई. की बात है। रानडेजी प्रो० वुडहाउस के साथ जॉनस्मॉल हॉल में गये थे। अचानक उन्हें प्रो० वुडहाउस के चेहरे के आसपास वलयांकित नीले-सुनहरे तारे दिखाई देने लगे। वे विस्मित हुए। इन अनुभूतियों का स्पष्टीकरण किससे पूछा जाय? क्या ये सारे अनुभव सचमुच आध्यात्मिक हैं? रानडेजी उलझन में पड़ गये। वे बुद्धिवादी थे और अनुभूतियों के प्रति भी

आलोचनात्मक दृष्टि रखते थे । उनकी ब्रह्म की अनुभूतियाँ निश्चित रूप से सच हैं, यह प्रमाणित करने के लिए उन्हें किसी आत्मज्ञानी की सलाह की जरूरत थी । इसी उद्देश्य से उन्होंने प्रो० वुडहाउस से अपनी अनुभूतियों का स्पष्टीकरण पूछा । किन्तु वे इन बातों से अनभिज्ञ थे । बाद में जब एनी बेसेंट ने उनकी अनुभूतियों की बात सुनकर और उनके गुरु का फोटो देखकर आदर तथा श्रद्धा व्यक्त की, तब रानडेजी को अपनी अनुभूतियों की सच्चाई पर विश्वास हुआ । फलत: वे अपने साधना-पथ पर अधिक उत्साह से अग्रसर हुए ।

लेकिन परमार्थ का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है । उसमें अनेक प्रकार के प्रत्यवाय हैं । हम पूर्व लेख में कह चुके हैं कि १९०९ में रानडेजी को मस्तिष्क का यक्ष्मा हुआ और वे अत्यन्त बीमार पड़ गये । चिकित्सकों ने भी जवाब दे दिया । पर ऐसी बीमारी में भी वे यथाशक्ति गुरूपदिष्ट साधना करते ।

एक दिन पौ फटते ही वे ध्यान करने के लिए बैठ गये । थोड़ी ही देर में उन्हें घण्टे की मधुर ध्वनि सुनाई देने लगी । उनकी सुध-बुध बिसर गयी । जब उनकी चेतना लौटी, तो वे कुछ चौंक-से गये । बाहर आकर अपनी माँ से उन्होंने पूछा, "पीछे महादेव के मन्दिर में कोई घण्टा बजा रहा था क्या ?" माँ ने नकारात्मक उत्तर दिया । उसी दिन रानडेजी को उनके मित्र द्वारा भेजी गयी शंकराचार्य की 'योगतारावली' मिली, जिसके प्रथम पन्ने पर ही श्लोक था—"नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यम् . . ." । पढ़कर वे समझ गये कि सुबह ध्यान में सुना गया वह घण्टानाद ब्रह्म का ही एक रूप है, अंग है, जिसे योगियों ने

'अनाहत ध्वनि' या 'अनहद नाद' कहकर पुकारा है। अपनी "Pathway to God in Kannada Literature" पुस्तक में इसी प्रसंग का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं—"When I became reckless and desperate about my life, and said it does not matter if I die, I devoted my whole attention to God. So after four months of strenuous practice a sort of an experience came upon me" (जब मैं अपने जीवन के प्रति हताश और उपेक्षापूर्ण हो गया तथा मुझे ऐसा लगा कि यदि मर जाऊँ तो भी कोई बात नहीं, तो मेरी समूची चेतना ईश्वर की ओर चली गयी। चार महीने की कठोर साधना के फल-स्वरूप एक प्रकार की अनुभूति से मेरा मन भर गया)। वह अनुभूति थी नादब्रह्म की। अनहद नाद परब्रह्म की एक उच्चकोटि की अनुभूति है। रानडेजी कहते थे, "ऐसा नाद इस संसार में कहाँ है? इससे मन का आत्मा में तुरन्त विलय हो जाता है। जब 'झनकुन' 'झनकुन' इस प्रकार का नाद सुनाई देता है, तब असली ध्यान का प्रारम्भ होता है। नाद जितना सूक्ष्म होता है, उसकी गुणवत्ता उतनी ही श्रेष्ठ होती है। Nada comes from every cell of the body (नाद शरीर के पोर-पोर से निकलता है)। रूप इस नाद के corresponding (अनुरूप) ही होता है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्'।"

अनाहत नाद के सम्बन्ध म रानडेजी की और एक अनभूति उल्लेखनीय है। यह प्रसंग उन दिनों का है, जब वे निम्बाल के मकान का कामकाज देखने आया करते थे। रात के बारह बजे वे कमरे के बीच एक दरी बिछाकर आत्मचिन्तन में बैठ जाते थे। सुबह तक उनकी ध्यान-धारणा चलती रहती। पलंग या गद्दे पर दीवार के सहारे

बैठने से नींद आती है, इसलिए वे कमरे के बीच में बैठा करते। सहसा उन्हें चट्टान गिरने की भीषण आवाज सुनाई दी। डरकर उन्होंने छाती पर हाथ रखा और कमरे से बाहर आये। अपने शिष्य जगन्नाथ को आसपास कोई मकान या दीवार गिर गयी है क्या, यह देखने को भेजा। वह जाकर देख आया, लेकिन कहीं भी ऐसा कुछ नहीं हुआ था। तब उन्हें विश्वास हुआ कि वह नाद भौतिक जगत् का नहीं अपितु आध्यात्मिक जगत् का था। भक्त को कभी-कभी ईश्वर के भयंकर रूप की भी अनुभूति हो सकती है—'भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्'। रानडेजी कहते थे, "आजकल मेरा मस्तिष्क sounding box (ध्वनि-पेटिका) की तरह हो गया है। कभी-कभी मेरे साथ बोलनेवाले के शब्द सुनाई नहीं देते, केवल महसूस होता है कि उसके होंठ हिल रहे हैं। कर्णरन्ध्र से भों-भों नाद सुनाई देता है।"

रानडेजी की शेष-दर्शन सम्बन्धी अनुभूतियाँ भी अत्यन्त उद्बोधक हैं। यह उस समय की बात है, जब वे फर्ग्युसन कालेज के पिछवाड़े स्थित अपने अध्यात्म-भवन में रहने गये थे। एक दिन दोपहर की धूप में वे अपने बँगले के चक्कर काटने लगे। उनके निकटवर्ती गुरुबन्धु ने उनसे पूछा, "आज इतनी धूप में यह क्या हो रहा है?" रानडेजी ने कहा, "क्या बताऊँ सर्वत्र शेष का दर्शन हो रहा है—शेष की coils over coils (कुण्डली पर कुण्डली) दिखाई दे रही हैं।"

रानडेजी की माता जब मृत्युशय्या पर थीं, तब डाक्टर ने कहा, "आज का दिन भी निकालना मुश्किल है।" रानडेजी ने अपने निकट खड़े गुरुबन्धु से कहा, "आज

माँ को कुछ नहीं होगा । मुझे सुन्दर नयनों का दर्शन हो रहा है ।" और वैसा ही हुआ । उस दिन उनकी माता की सेहत ठीक रही । दो-चार दिनों के बाद उनका देहान्त हुआ । उनकी चिता पर रानडेजी ने शेष को नाचते हुए देखा, जिसके आधार पर उन्होंने निश्चयपूर्वक कहा, "उसे सद्गति मिल गयी ।" एक दिन वे बोले, "कालिया आया है, किन्तु कालियामदन नहीं आया !"

ऐसा कहा जाता है कि ईश्वर अपने भक्त के सामने नाटकीय रूप से पेश आता है । भक्त उसे देखने के लिए तरसता है, तब वह गायब हो जाता है, और जब भक्त सम्पूर्ण निराश हो जाता है, तब उसके सामने समस्त वैभव के साथ प्रकट होता है, उस पर कृपा करता है । ईश्वर ने रानडेजी के साथ भी केवल आँखमिचौली ही नहीं खेली, वरन् उनकी अत्यन्त कठिन परीक्षा भी ली ।

१९१७-१८ के बीच मृत्युदेवता ने रानडेजी के जीवन में ताण्डव नृत्य किया । उनके इकलौते पुत्र, कान्ता और माता इन तीनों को वह अचानक उठाकर ले गया तथा रानडेजी को इस संसार में नितान्त अकेला छोड़ गया—वह भी उन्हें अत्यन्त दुर्बल बनाकर । हम पूर्व लेख में कह चुके हैं कि १९१९ में उन्हें फेफड़ों का तपेदिक हो गया और वे कठिन रूप से बीमार पड़ गये । कालेज में पढ़ाना भी मुश्किल हो गया और वे लम्बी छुट्टी ले अपने सद्गुरु के आश्रम इंचगेरी आ गये । शरीर अस्थिपंजर रह गया, लेकिन उन्होंने उसके प्रति कोई लाड़ नहीं किया, बल्कि ऐसी दुर्बल काया को भी साधना में लगाये रखा । 'तन की आस कछु नहिं कीन्ही, जो रणमाहीं सूरो'—मीराबाई की इस उक्ति के अनुसार ऐसी कठिन अवस्था में भी उनका

नाम-स्मरण अविरत चल रहा था । आखिर साँस-साँस पर नाम लेकर सोऽहं का गढ़ जीत लेने में वे सफल हुए और ईश्वर अपने दैदीप्यमान रूप में उनके सामने प्रकट हुआ । अपने सहपाठी से उन्होंने कहा, "मैं किन शब्दों में बताऊँ कि मेरी आँखों के सामने कैसा महातेज प्रकट हुआ है ।" कुछ ही दिनों में उन्हें ध्यान में ईश्वर के अनेक नाम सुनाई दने लगे । कबीर का यह दोहा उनकी उस समय की स्थिति का यथार्थ वर्णन होगा--

हाड़ सूख पींजर भये, रगै सूख भइ तार ।
रोम रोम सुर उठत है, बाजत नाम तिहार ।।

--'हाड़ सूखकर पिंजर हो गये; नाड़ियाँ सूखकर तार हो गयीं; रोम-रोम से स्वर उठ रहा है; हे ईश्वर ! तेरा नाम बज रहा है ।'

१९२० की बीमारी में रानडेजी का शरीर सूखकर काँटा हो गया था । हड्डियों के उस ढाँचे पर सूखी नाड़ियाँ तानपूरे के तार के समान लग रही थीं, जिनसे ईश्वर का नाम झंकृत हो रहा था । उन्हें हिन्दू धर्म के ईश्वर-नामों की अनुभूतियों के साथ मुसलमान, ईसाई और पारसी धर्मों के आदिगुरुओं के नामों की भी अनुभूति हुई । पहले वे इस अनुभूति का अर्थ नहीं समझ पाये । उन्होंने इसका अर्थ अपने गुरुबन्धु अम्बुरावजी से पूछा । अम्बुरावजी हर्ष से नाचने लगे । उन्होंने कहा, "रामराया, अब तुम गुरुपद के अधिकारी हो गये हो । इनमें से कोई भी नाम तुम योग्य व्यक्ति को देकर उसका उद्धार कर सकते हो ।" लेकिन अम्बुरावजी उनकी निम्बर्गी सम्प्रदाय की परम्परा को अच्छी तरह निभा रहे थे ,इसलिए रानडेजी ने नम्रतापूर्वक गुरु बनने से इनकार कर दिया । उन्होंने १९२० तक की

अपनी कई अनुभूतियाँ अपने गुरु-बन्धुओं को बतलायी थीं, लेकिन उसके बाद की बहुत सारी बातें गुप्त ही रखीं। शायद कविवर रहीम की तरह वे भी सोचने लगे होंगे—

रहिमन बात अगम्य की, कहत सुनन की नाहिं।
जे जानत ते कहत नहिं, कहत ते जानत नाहिं।।

रानडे महोदय को दर्शन की जीवन्त मूर्ति कहना अनुचित नहीं होगा। "कर से काम करो हरि का ध्यान धरो"—इस आदर्श को अपने जीवन में उतारनेवाले वे एक विलक्षण पुरुष थे। ध्यान-धारणा उनके जीवन का मध्यबिन्दु थी और उसीके आधार पर उनकी दैनन्दिनी का चक्र घूमता था—फिर वे चाहे निम्बाल में हों चाहे इलाहाबाद में, चाहे विश्वविद्यालयीन काम हो या ग्रन्थ-लेखन का, चाहे बीमार हों या तन्दुरुस्त। "अब कैसे छुटे राम रट लागी"—ऐसी उनकी स्थिति थी। इस रामनाम के सहारे ही उन्होंने अपनी असाध्य व्याधि ओषधि के बिना ही काबू में रखी।

एक समय की बात है। इलाहाबाद म काफी ठण्ड पड़ी थी। साथ ही साथ वर्षा होने और बिजली के चमकने से प्रकृति का रूप भीषण लग रहा था। रानडेजी की सेहत काफी खराब हो रही थी। फिर भी नाम-स्मरण के लिए वे अपने कमरे में चले गये। उस दिन आधे घण्टे में ही उन्हें अमृतरस की अनुभूति हुई। बिजली की चपलता से वे बाहर आये और कबीरदास का यह दोहा गाने को कहा—

गगन गरजि बरसे अमी, बादल गहिर गभीर।
चहुँ दिसि दमके दामिनी, भीजत दास कबीर।।

सन्तों की कुछ अनुभूतियाँ शब्दों म कही जा सकती हैं तो कुछ शब्दातीत, अवर्णनीय होती हैं। यहाँ पर श्रीराम-

कृष्ण परमहंस की एक उपमा याद आती है—"एक नमक का पुतला समुद्र की गहराई नापने गया और पहला कदम रखते ही पानी में विलीन हो गया।" उसी प्रकार ब्रह्म की अनुभूति अनिर्वचनीय होती है। वह शब्दों की सीमा लाँघ जाती है। १९५७ में जमखण्डी में अमृत महोत्सव के समय रानडेजी एक प्रकार से ईश्वरोन्माद में थे। एक दिन ध्यान में उन्होंने पिता की गोद में बालक जिस प्रकार निर्भयता से खेलता है उसी प्रकार उस परमपिता की गोद में मस्त होने का अनुभव किया था।

१९५५ में रानडेजी की प्रसिद्ध पुस्तक Pathway to God in Hindi Literature का विमोचन-समारोह दिल्ली के राष्ट्रपति भवन में डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में हुआ। उस कार्यक्रम में उपस्थित एक विदेशी महिला ने रानडेजी से प्रश्न किया, "आप कबीर, ज्ञानेश्वर, तुलसी-दास आदि सन्तों की आत्मानुभूतियाँ तो बताते हैं, मगर अपना आत्मानुभव क्यों नहीं बताते?" रानडेजी ने फौरन उत्तर दिया, "You can trace it from my books" (आप मेरे ग्रन्थों में उसे पा सकती हैं)।

रानडेजी जब अपने ध्यान-कक्ष से बाहर आते, तब उनके मुख पर एक विलक्षण तेज झलकता रहता। उनकी वाणी से जो शब्द झरते, वे आज उनके ग्रन्थों के रूप में हमें उपलब्ध हैं।

○

मानस-रोग (७/१)

(पण्डित रामकिंकर उपाध्याय)

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके सातवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

पूर्व प्रवचनों में हमने चर्चा की है कि गोस्वामीजी मानस-रोग के विवेचन में आयुर्वेदशास्त्र की पद्धति का सहारा लेते हुए कहते हैं कि जैसे कफ, वात और पित्त मनुष्य के शरीर के त्रिदोष हैं, वैसे ही लोभ, काम और क्रोध उसके मन के त्रिदोष हैं। जब तक मनुष्य का शरीर है, तब तक ये त्रिदोष बने ही रहेंगे। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए इन तीन दोषों को मिटाना नहीं है, अपितु तीनों को सन्तुलित रखना है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवित रहते मन के ये तीन दोष भी बने रहेंगे; जब तक सृष्टि है, तब तक काम, क्रोध और लोभ की सत्ता भी बनी रहेगी। इन्हें मिटाना नहीं है, बल्कि इनकी मात्रा को सन्तुलित बनाकर रखना है। जैसा कि मैंने पूर्व में स्पष्ट किया था, जब शरीर में वात नियन्त्रित रहता है, वह व्यक्ति के शरीर को गति देता है और जब वह अमर्यादित हो जाता है तब व्यक्ति के शरीर में अगणित रोगों की सृष्टि करता है। उसी प्रकार जब काम जीवन में नियन्त्रित और मर्यादित रहता है तब हानिकारक नहीं होता, पर जब वह मर्यादा की सीमा लाँघ जाता है तब व्यक्ति और समाज को पतन की ओर ले जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए 'रामचरितमानस' के भिन्न-भिन्न प्रसंगों में काम के विविध

पक्षों का सुन्दर विश्लेषण किया गया है और यह बताया गया है कि किस रूप में उसे समाज में स्वीकार किया जाना चाहिए तथा किसरूप में उसका परित्याग होना चाहिए। जैसा कि मैंने पूर्व में सूत्ररूप में कहा था कि एक ओर तो वह काम है, जो ब्रह्मा और देवताओं की प्रेरणा से भगवान् शंकर पर आक्रमण करने आता है तथा दूसरा काम वह है, जो लंका में रहता है तथा रावण की प्रेरणा से बन्दरों के विरुद्ध, भगवान् राम और लक्ष्मण के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए प्रस्तुत होता है। अब यहाँ देखना होगा कि प्रथम और द्वितीय काम की प्रक्रिया में क्या अन्तर है। प्रथम काम ब्रह्मा और देवताओं द्वारा प्रेरित है। ब्रह्मा विचार के देवता हैं—

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान ।।६/१५क

और रावण है मूर्तिमान मोह। तो, एक काम विचार के द्वारा संचालित है, सद्गुणों से सम्बद्ध है और दूसरा काम मोह के द्वारा संचालित है। वह दुर्गुणों का पक्ष लेकर सद्गुणों पर प्रहार करनेवाला है। पहला काम जिस उद्देश्य को लेकर भगवान् शंकर के पास जाता है, वह लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित है। आपके सामने पूर्वपीठिका के रूप में कथा प्रस्तुत की गयी थी कि जब भगवान् शंकर समाधि में अन्तर्लीन हो जाते हैं, तो तारकासुर बड़ी तपस्या करता है। तारकासुर की तपस्या से प्रसन्न हो ब्रह्मा उसे वरदान देने के लिए आते हैं और उससे पूछते हैं कि तुम क्या चाहते हो। असुरों की तो सबसे प्रिय अभिलाषा है अमरता और उस अमरता से उनका तात्पर्य होता है शरीर को अमर बनाने की वृत्ति। दैत्य वह है, जो शरीर को ही

आत्मतत्त्व मानता है। पर जो आत्मतत्त्व का ज्ञानी है, वह जानता है कि आत्मा और शरीर भिन्न हैं। आत्मा अमर है और शरीर नाशवान्। पर जो शरीर को आत्मा मान बैठता है, उसके मन में शरीर को ही बचाये रखने की, अमर बनाने की चिन्ता होती है। जितने दैत्य हैं, असुर हैं, उनके जीवन में यही देहात्मवाद दिखाई देता है। इसलिए आप देखेंगे कि सब असुरों की कथा में यह बात अवश्य आती है कि वे तपस्या करके देवताओं को प्रसन्न कर शरीर को अमर बनाने का वरदान माँगते हैं। ऐसे वरदान के माँगने के पीछे तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि वे देवताओं को अपनी अपेक्षा शक्तिमान् तो मानते हैं, यह भी मानते हैं कि उनका वरदान फलप्रसू होता है, पर बुद्धिमत्ता में उन्हें अपने से कम समझते हैं। और इसीलिए उनके मन में यह बात सदा बनी रहती है कि जो वस्तु ये देवता देना नहीं चाहते, उसे अपनी चालाकी से प्राप्त कर लें। यही कारण है कि ये असुर अलग-अलग पद्धति से याचना करते हैं। हिरण्यकशिपु ने वरदान माँगा था कि मैं न दिन में मरूँ, न रात में, न बाहर मरूँ न भीतर, न अस्त्र से मरूँ न शस्त्र से, न मनुष्य से मरूँ न पशु से। उसने सोचा था कि ऐसा वरदान माँगकर मैं मृत्यु के सारे द्वारों को बन्द कर दे रहा हूँ, क्योंकि भीतर या बाहर, दिन या रात, अस्त्र अथवा शस्त्र, मनुष्य या पशु इनमें से ही कोई मृत्यु का कारण हो सकता है। रावण का तर्क इससे भिन्न है। रावण सोचता है कि बन्दरों और मनुष्यों को तो मैं अपनी शक्ति से ही हरा सकता हूँ। वे तो हमारी निशाचर-जाति के लिए भोज्य पदार्थ हैं—

नर कपि भालु अहार हमारा।। ६/७/९

—इसलिए उनसे हमें कोई भय नहीं। और इसलिए वह वरदान माँगता है—

> हम काहू के मरहिं न मारें।
> बानर मनुज जाति दुइ बारें ॥१/१७६/४

—'वानर और मनुष्य इन दो जातियों को छोड़ हम किसी के भी मारने से न मरें।' इस सन्दर्भ में तारकासुर का तर्क अपेक्षाकृत और भी सूक्ष्म है। वह जब शंकरजी के बारे में विचार करता है तो उसे लगता है कि बहिर्मुखी व्यक्ति सुख का स्रोत भीतर नहीं ढूँढ़ पाता, इसलिए वह बाहर सुख के लिए भटकता है और इसी सुखाभिलाषा से प्रेरित हो वह विवाह करता है। पर भगवान् शंकर तो अपने स्वरूप में, समाधि में तल्लीन हैं। भले ही पहले उन्होंने सती को स्वीकारा हो, पर सती का परित्याग भी उन्होंने स्वेच्छा से किया और अब अपनी अन्तर्मुखता में डूब गये। इसका अर्थ यह है कि भगवान् शंकर अब कभी विवाह नहीं करेंगे। यह तारकासुर का तर्क है। इसलिए जब ब्रह्माजी ने तारकासुर से पूछा कि तुम क्या चाहते हो, तो उसने कहा कि महाराज, शंकरजी के पुत्र के हाथों मेरी मृत्यु हो। उसने गणित कर लिया था कि न शंकरजी विवाह करेंगे, न उनके पुत्र होगा और न मैं मरूँगा। इस तरह मैं अमरता लाभ कर लूँगा। वह वस्तुतः शंकरजी की अन्तर्मुखता का दुरुपयोग करता है। वह सोचता है—अच्छा है, शंकरजी आत्मसुख में डूबे रहें तो हमें बाहर मनमानी करने का अवसर मिलेगा। इनकी अन्तर्मुखता से हमें बड़ी छूट मिल जाएगी। शंकरजी तो बाहर देखेंगे नहीं और इसलिए बाहर का संसार मेरी इच्छा के अनुकूल संचालित होगा। इस तरह मैं अमर भी हो जाऊँगा और

विश्व पर शासन भी करूँगा । और ऐसा सोच वह संसार पर अत्याचार करने लगता है, जिससे सब लोग संत्रस्त हो उठते हैं । तब ब्रह्मा सोचते हैं कि जब तक भगवान् शिव अपनी अन्तर्मुखता से उतरकर नीचे नहीं आएँगे, लोक-कल्याण के लिए बाहर नहीं निकलेंगे, तब तक तारकासुर की मृत्यु होगी नहीं । गोस्वामीजी लिखते हैं—

तारकु असुर भयउ तेहि काला ।
भुज प्रताप बल तेज बिसाला ।।
तेहि सब लोक लोकपति जीते ।
भए देव सुख संपति रीते ।।
अजर अमर जो जीति न जाई ।
हारे सुर करि बिबिध लराई ।।
तब बिरंचि सन जाइ पुकारे ।
देखे बिधि सब देव दुखारे ।।
सब सन कहा बुझाइ बिधि दनुज निधन तब होइ ।
संभु सुक्र संभूत सुत एहि जीतइ रन सोइ ।।१/८२

—उस समय तारक नाम का असुर हुआ, जिसकी भुजाओं का बल, प्रताप और तेज बढ़ा-चढ़ा था । उसने सब लोक और लोकपालों को जीत लिया तथा सारे देवता सुख और सम्पत्ति से रहित हो गये । वह अजर-अमर था, इसलिए उसे कोई जीत नहीं पाता था । देवता उसके साथ हर प्रकार से लड़कर हार गये । तब उन्होंने ब्रह्माजी के पास जाकर पुकार मचायी । तब ब्रह्माजी ने सब देवताओं को दुःखी देख समझाकर कहा, 'इस दैत्य की मृत्यु तब होगी, जब शिवजी के वीर्य से पुत्र होगा । वही इसे युद्ध में जीतेगा ।' और इसलिए—

पठवहु कामु जाइ सिव पाहीं ।

करै छोभु संकरु मन माहीं ।।१/८२/५

—'तुम लोग जाकर कामदेव को शिवजी के पास भेजो, जिससे वह शिवजी के मन में क्षोभ उत्पन्न करे ।'

और इस उद्देश्य से काम को शंकरजी के पास भेजा जाता है । ब्रह्माजी, जो विचार और सद्गुणों के प्रतीक हैं, का अभिप्राय यह था कि यदि भगवान् शिव की थोड़ी सी बहिर्मुखता से लोग तारकासुर के अत्याचार से मुक्त हो सकते हैं, तो क्या यह उचित नहीं होगा कि भगवान् शंकर अपना समाधि-सुख छोड़कर लोक-कल्याण के लिए जरा बाहर आवें । पार्वतीजी भगवान् शंकर की शक्ति हैं । काम के आक्रमण का उद्देश्य यह है कि पार्वतीजी के प्रति शंकरजी के मन में आकर्षण हो, जिससे वे उनसे विवाह करें; क्योंकि विवाह होने से जो सन्तान होगी, उसी के द्वारा तारकासुर का वध होगा । अत: काम के इस कार्य के पीछे लोक-कल्याण की भावना है । पर लंका में जो काम है, उसका पक्ष ठीक उलटा है । वह कौन है ? गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं—

मोह दशमौलि तद्भ्रात अहंकार
पाकारिजित काम विश्रामहारी । ५८।७

—मेघनाद ही वह काम है, रावण है साक्षात् मोह और कुम्भकर्ण है अहंकार । लंका का काम रावण का समर्थक है । देवताओं का काम चाहता है कि शंकरजी की प्रिया, उनकी शक्ति उनसे मिले, पर लंकावाला काम चाहता है कि सीता जो राम की शक्ति है वह राम से न मिलने पावे, उसका तो यह उद्देश्य है कि राम की शक्ति किसी तरह रावण की ओर अभिमुख हो जाय । वह शक्ति को और ईश्वर को एक दूसरे से दूर रखना चाहता है । यही

नहीं, वह उसे मोहरूपी रावण की बन्दिनी बनाकर रखना चाहता है। ब्रह्मा द्वारा प्रेरित काम यह मानकर चलता है कि यदि मेरी मृत्यु हो भी गयी तो वह लोक-कल्याण के लिए ही होगी। पर इस आसुरी भावापन्न काम की मान्यता बड़ी विचित्र है।

आप 'रामचरितमानस' अथवा 'वाल्मीकि रामायण' में यह पाएँगे कि रावण के द्वारा सीताजी का हरण किये जाने की आलोचना अनेक पात्रों ने की। कुम्भकर्ण, विभीषण, मन्दोदरी, माल्यवान् सभी ने उसकी आलोचना की। रावण के दूसरे पुत्र प्रहस्त ने तो यह प्रस्ताव किया कि आप सीताजी को लौटा दीजिए और इस प्रकार अपने द्वारा की गयी भूल का परिमार्जन कर लीजिए। इसके बाद राम यदि सीताजी को लेकर लौट जाते हैं तो ठीक है, अन्यथा मैं आपकी ओर से उनके विरुद्ध युद्ध करूँगा। पर एक व्यक्ति ऐसा भी है, जिसने अपने जीवन में कभी भी रावण के इस कार्य में अनौचित्य नहीं देखा और न कभी उसकी निन्दा की। वह है मेघनाद। इस से स्पष्ट है कि जो राक्षसी वृत्तिवाला काम है, वह परस्त्री के प्रति आसक्ति को बुरा नहीं मानता। वह अपनी आकांक्षा और वासना की पूर्ति के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार रहता है।

गोस्वामीजी ने युद्ध की तीन कलाओं का वर्णन किया है। 'ज्ञान-दीपक' प्रसंग में वे कहते हैं—

कल बल छल करि जाहिं समीपा। ७/११७/८

—कला, बल और छल ये युद्ध के तीन प्रकार हैं। कला से युद्ध, बल से युद्ध और छल से युद्ध। आप देखेंगे लंका में बल से युद्ध करनेवाला पात्र कुम्भकर्ण है, छल से सीताजी के ऊपर अधिकार करने की चेष्टा करनेवाला

रावण है। पर मेघनाद का युद्ध सबसे विचित्र है। उसमें तीनों कलाएँ मिली हुई हैं। बल और छल के साथ ही साथ मेघनाद एक बड़ा कलाकार भी है। उसके युद्ध में कौशल भी है, बल भी और छल भी। तात्पर्य यह कि काम अपने आक्रमण में कौशल, छल और बल तीनों का सहारा लेता है। पर एक पात्र ऐसा भी है, जिस पर काम अपना प्रभाव नहीं डाल पाता। वह हैं हनुमान्जी। वास्तव में भगवान् शंकर ही हनुमान्जी के रूप में यहाँ पर एक दूसरी भूमिका स्वीकार करते हैं। जिस समय भगवान् विष्णु से नारद ने पूछा कि महाराज, मेरे हृदय में शान्ति कैसे हो? तो भगवान् विष्णु ने कहा—

जपहु जाइ संकर सत नामा। १।१३७।५

तब देवर्षि नारद शंकरजी के चरणों में पहुँचे और उन्हें प्रणाम करके क्षमायाचना करने लगे कि महाराज, मेरे अन्तःकरण में इतने दोष आ गये थे कि मैं क्या बताऊँ। काम-विजय के बाद मेरे मन में यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि आपके मन में मेरे प्रति ईर्ष्या की वृत्ति आ गयी है। उसके लिए आप मुझे क्षमा कीजिए। शंकरजी ने उत्तर में कहा, "देवर्षे, अब क्षमा माँगने की कोई आवश्यकता नहीं। जब आपने अपने प्रति ईर्ष्या समझी थी, तब मेरे मन में ईर्ष्या का भाव नहीं था। पर अब आपके प्रति मेरे मन में ईर्ष्या है।" नारदजी बड़े चकित हुए, बोले, "महाराज, तब जब ईर्ष्या नहीं थी, तो अब किस बात की ईर्ष्या है?" शंकरजी ने कहा कि जब से भगवान् ने आपकी रक्षा के लिए आपको वानर की आकृति दी, तब से मुझे आपके प्रति ईर्ष्या है। आपको उस समय भले लगा हो कि बन्दर की आकृति देकर आपके साथ बड़ा

अन्याय हुआ, लेकिन महाराज, आप कुछ घण्टे के लिए जो बन्दर बने, वह श्री राम के ही बन्दर बने, अतः काम का बन्दर बनने से तो बच गये न ! काम का तो स्वभाव ही है कि—

को जग काम नचाव न जेही । ७।६९।७

—वह व्यक्ति को बन्दर बनाकर नचाता है । आपका सौभाग्य कितना बड़ा कि आप राम के बन्दर बने । मैं समझ गया कि प्रभु को मेरी उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी आपकी ।

—कैसे ?

—जब मेरे ऊपर काम ने आक्रमण किया तो उन्होंने मुझे बचाने की कोई चेष्टा नहीं की । मुझे स्वयं लड़ना पड़ा । पर जब आपके ऊपर काम का आक्रमण हुआ तो प्रभु बचाने के लिए स्वयं सामने आये । इससे सिद्ध होता है कि मेरे प्रति उनका नाता बड़े पुत्र का है और आपके प्रति एक छोटे बालक का । पिता बड़े बेटे पर उतना ध्यान नहीं देता जितना छोटे पर । यही आपके प्रति मेरी ईर्ष्या का कारण है । मैं यही चाहता हूँ कि प्रभु के मन में मेरे प्रति भी वैसा ही अपनत्व और वात्सल्य जाग्रत् हो जैसा आपके प्रति है और वे मुझे एक नन्हे बालक के रूप में देखें । और जैसी चिन्ता उन्होंने आपको बचाने के लिए की, वैसी ही चिन्ता मेरे लिए करें । तब कहीं मुझे सन्तोष होगा ।

और ऐसी प्रेमभरी ईर्ष्या के फलस्वरूप भगवान् शंकर की प्रभु के प्रति प्रीति बढती जाती है तथा उनमें उनके और भी अधिक निकट पहुँचने की वृत्ति जागती है । वे बन्दर बनने का निर्णय लेते हैं । इसके पीछे उनका तात्पर्य यह था कि प्रभु ने नारद को बुराई से बचाने के

लिए बन्दर बनाया, इसलिए मैं भी स्वयं बन्दर बनकर उनके सम्मुख आ जाता हूँ, जिससे उनका स्नेह मुझे मिले। इस प्रकार भगवान् शंकर हनुमान्जी के रूप में प्रभु की सेवा में उपस्थित होते हैं। भगवान् शंकर के जीवन में काम पर नियन्त्रण की प्रक्रिया है, जबकि हनुमान्जी के रूप में उनके जीवन में काम की कोई स्वीकृति ही नहीं है। नारद तो कुछ ही घण्टों के लिए बन्दर बने थे, पर शंकरजी को यह भूमिका इतनी पसन्द आयी कि उन्होंने कहा, "प्रभो, मैं घण्टे-दो-घण्टे के लिए बन्दर बनना नहीं चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि जीवन भर आपके संकेत पर नाचता रहूँ।" और उन्होंने हनुमान् के रूप में नन्हे बालक की ही वृत्ति स्वीकार कर ली। 'मानस' में हम पाते हैं कि मेघनाद यदि किसी से भयभीत होता है तो वह शंकरावतार हनुमान्जी से ही। हनुमान्जी का शुद्ध बालभाव है।

'रामचरितमानस' में तीन महान् ब्रह्मचारियों का वर्णन है---नारद, परशुराम और हनुमान्जी। नारद की प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं---

ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा।
तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा॥ १।१२८।२

---'आप तो ब्रह्मचारी हैं, आपको भला काम कैसे सता सकता है?'

परशुरामजी स्वयं अपना परिचय देते हुए गर्व से कहते हैं---

बाल ब्रह्मचारी अति कोही। १।२७१।६

---'मैं बाल-ब्रह्मचारी अत्यन्त क्रोधी स्वभाव का हूँ।' पर हनुमान्जी ने अपने पूरे चरित्र में कभी अपना परिचय

बाल-ब्रह्मचारी के रूप में नहीं दिया। इसका अभिप्राय क्या? ब्रह्मचारी कहकर अपना परिचय वही देगा, जो अपने को युवा मानेगा। अगर चार बरस के लड़के से कोई पूछे तो क्या वह यह कहेगा कि वह बाल-ब्रह्मचारी है? हनुमान्‌जी का तात्पर्य यह है कि वे बालक हैं। बालक में ब्रह्मचर्य की कोई विशिष्टता नहीं होती। वह उसकी प्रकृति का एक अंग है। शंकरजी के चरित्र में ज्ञानी की भूमिका है, पर हनुमान्‌जी के रूप में उनके चरित्र में एक भक्त की भूमिका है—ऐसा भक्त, जो नन्हा-सा बालक बन चुका है।

एक मीठा प्रसंग आता है। जब भगवान् राम से हनुमान्‌जी का परिचय हुआ, तो हनुमान्‌जी ने प्रभु से प्रस्ताव किया—

नाथ सैल पर कपिपति रहई।
जो सुग्रीव दास तव अहई॥
तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।
दीन जानि तेहि अभय करीजे॥ ४।३।२-३

—'महाराज, पर्वत पर बन्दरों के राजा सुग्रीव रहते हैं। उनसे चलकर मित्रता कीजिए और उन्हें अभयदान दीजिए।' और इसके बाद—

एहि बिधि सकल कथा समुझाई।
लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई॥ ४।३।५

—हनुमान्‌जी ने इस प्रकार सारी बातें समझाकर दोनों को अपनी पीठ पर चढ़ा लिया। हनुमान्‌जी ने कहा—"प्रभो, आपने जब अपना परिचय दिया, उसी से मुझे यह साहस हुआ कि आपको पीठ पर चढ़ाऊँ। पहले तो मैं समझता था कि आप —

जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार । ४।१

—जगत् के कारण हैं, जो धरती का भार हरने के लिए अवतरित हुए हैं । पर जब आपके मुँह से यह निकला, 'मैं सृष्टि का कारण नहीं, मैं तो दशरथ का बेटा हूँ,' तो मुझे विश्वास हो गया कि यह जो नया ईश्वर है, उससे चाहे जो नाता जोड़ा जा सकता है । आप जब जगत्-पिता होकर दशरथ के पुत्र बन सकते हैं, तो मुझे लगा आप सुग्रीव के मित्र भी बन सकते हैं । फिर मैंने आपको पीठ पर चढ़ाने का साहस इसलिए किया कि जब आप दशरथ के पुत्र बने, तो उन्होंने अवश्य ही आपको गोद में उठाया होगा । अतः मैंने सोचा कि जब आप गोद में बैठ सकते हैं, तो मेरी पीठ पर भी बैठ सकते हैं । गोद का आनन्द आपने ले ही लिया है, अब पीठ का आनन्द भी ले लीजिए ।"

प्रभु ने हनुमान्जी से विनोद किया—"जब दशरथजी ने मुझे गोद में उठाया था, तो तुम भी मुझे गोद में लेकर पर्वत पर ले चलते । पीठ पर बिठाने की क्या आवश्यकता है ?"

हनुमान्जी ने कहा, "नहीं महाराज, गोद में लेने और पीठ पर बिठाने में बड़ा अन्तर है ।"

—क्या अन्तर है ?

—जिसे गोद में लिया जाता है, गोद में लेनेवाला उसी को पकड़े रहता है । पर जब कोई पीठ पर बैठता है, तो वही बैठानेवाले को पकड़े रहता है । दशरथजी समर्थ थे । वे आपको पकड़े रह सकते थे । पर मैं चाहता हूँ कि आप ही मुझे पकड़े रहिए । समर्थ जीव भले ही आपको धारण करे, पर मुझ-जैसा व्यक्ति आपको पकड़े रहे इसी

में उसका कल्याण है। मुझमें ऐसी योग्यता नहीं कि आपको हृदय में रखूँ। हृदय धर्म का प्रतीक है और पीठ अधर्म का। मेरी पीठ आपकी ओर है और मैं चाहता हूँ कि आप उसका अपने हृदय से स्पर्श किये रहें तथा मुझे निरन्तर पकड़े रहें। बस, महाराज, मैं यही सुख-सौभाग्य प्राप्त करना चाहता हूँ।

और सचमुच हनुमान्जी प्रभु के सामने शिशु के समान निष्काम हो गये। जो बड़ा पुत्र होता है, वह परिवार के कर्तव्य-कर्मों का निर्वाह करता है, पर छोटा सा बालक सम्पूर्ण रूप से माता-पिता पर आश्रित रहता है। हनुमान् जी उस छोटे से बालक की भाँति हैं, जिसे किसी प्रकार का पारिवारिक अथवा व्यावहारिक भार मान्य नहीं है। लंका की वाटिका में भी हम उनकी यही अनोखी भूमिका पाते हैं। हनुमान्जी ने वहाँ पहले बाग के फल खाये और बाद में उस बाग को उजाड़ दिया। यदि साधारण दृष्टि से देखें, तो यह बड़ा तर्कविरुद्ध कार्य लगता है। किसी वाटिका में फल खाने के बाद यह कौन सा शिष्टाचार है कि उस वाटिका को उजाड़ दिया जाय। ऐसा तो कोई व्यक्ति नहीं करता। रावण ने भी हनुमान्जी से यही पूछा कि तुमने फल खाये तो खाये, पर बाग क्यों उजाड़ा? इसका एक गम्भीर आध्यात्मिक तात्पर्य है। यह अशोक-वाटिका क्या है? यह रावण की—मोह की—वाटिका है। इस वाटिका में आकर मीठे फल खा लेना—यह भी जीवन की एक कला है। सीताजी दण्डकारण्य से अशोकवाटिका तक यात्रा करती हैं। दण्डकारण्य संशय का वन है और अशोकवाटिका मोह का। संशय और मोह—ये दोनों जीवन में बड़े घातक माने जाते हैं। पर जब हनुमान्जी कहते हैं

कि इस अशोकवाटिका में भी बड़े मीठे फल लगे हैं, तो इसका अर्थ यह है कि मोह में भी मीठे फल होते हैं। अगर आप ध्यान दें तो 'रामायण' और 'गीता' दोनों में आपको मोह का मीठा फल दिखाई देगा। अर्जुन के मन में अगर मोह उत्पन्न न होता, तो 'गीता'-जैसे फल की प्राप्ति ही न होती। यह 'रामायण' भी मोह के वृक्ष का का फल है। पार्वतीजी के अन्तःकरण में मोह हुआ, गरुड़ और भरद्वाज के मन में मोह हुआ, इसीलिए यह रामकथा सुनने को मिली। गरुड़ भुशुण्डिजी से कहते हैं—मुझे यह जो मोह हुआ सो अच्छा हुआ। क्यों? वे बोले—

जौं नहिं होत मोह अति मोही।
मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही।।
सुनतेउँ किमि हरि कथा सुहाई।
अति बिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई।। ७।६८।४-५

—'यदि मेरे मन में अत्यन्त मोह न होता तो मैं आपसे किस प्रकार मिलता और यह दिव्य रामकथा किस प्रकार सुनने को मिलती?'

तो, हनुमान्‌जी का अभिप्राय यह था कि मोह की वाटिका के मधुर फल तो ले लें, पर उसके बाद उस वाटिका को उजाड़ दें। यदि फल लेने के बाद मोह का नाश नहीं हुआ, तो वह अनर्थकारी होगा। जब भक्तिदेवी की कृपा होती है, तो मोह में भी मधुर फल प्राप्त हो जाते हैं। पर उसके बाद आवश्यक है मोह का समूलोच्छेद। 'गीता' सुनने के बाद अर्जुन कहता है—"नष्टो मोहः"—मेरा मोह नष्ट हो गया। इसका यही तात्पर्य है कि 'गीता' का मधुर फल मिल गया और बाद में मोह का बाग उजड़ गया। हनुमान्‌जी रावण के बगीचे को उजाड़कर

मानो मोह के बाग के रक्षक दुर्गुण, दुर्विचार-रूपी राक्षसों को चुनौती देते हैं। जिस व्यक्ति ने भक्ति की कृपा से मोह का मधुर रस पा लिया है तथा मोह के माध्यम से भी जिसके जीवन में भक्तिरस की वृद्धि हुई है, वह दुर्गुणों के विरुद्ध लड़ने में घबराता नहीं। उसे कोई भय नहीं होता। हनुमान्‌जी सारी वाटिका को ध्वंस करते हुए राक्षसों पर जो प्रहार करते हैं, वह मानो दुर्गुण-दुर्विचारों पर प्रहार करते हैं। जब यह सूचना रावण के पास पहुँचती है, तो वह पहले अक्षय को भेजता है और बाद में मेघनाद को। यह अक्षयकुमार लोभ का प्रतीक है और मेघनाद काम का। ये दोनों भाई हैं। रावण ने नाम भी बढ़िया चुना है। अक्षय—वह जिसका कभी क्षय न हो। गोस्वामीजी ने काम के लिए कहा—'काम बात', अर्थात् काम वात है; और क्रोध के लिए कहा—'क्रोध पित्त नित छाती जारा'—क्रोध पित्त है जो नित्य छाती को जलाता है। उन्होंने काम का कोई विस्तृत परिचय नहीं दिया, पर लोभ के साथ एक शब्द जोड़ दिया—

काम बात कफ लोभ अपारा।

—'यह जो कफ है, वह अपार लोभ है।' इसका तात्पर्य क्या? गोस्वामीजी ने यह 'अपार' शब्द काम के साथ नहीं जोड़ा, क्रोध के साथ भी नहीं जोड़ा, पर लोभ के साथ जोड़ दिया। यही गोस्वामीजी की विलक्षण सावधानी है, क्योंकि न तो काम अपार हो सकता है और न क्रोध ही। कितना भी बड़ा कामी क्यों न हो, पर वह सदा काम में नहीं रह सकता; कोई कितना भी बड़ा क्रोधी क्यों न हो, पर वह चौबीसों घण्टे क्रोध में नहीं रह सकता।

पर लोभ ऐसा है, जिसमें जीवन भर चौबीसों घण्टे रहा जा सकता है । इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा कि यह लोभ अक्षय और अपार है । कहा भी तो है—

जौ दस बीस पचास मिलै सत होय हजारन लाख मँगैगी ।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य पृथ्वी होन की चाह जगैगी ।।
स्वर्ग पताल को राज मिले तउ तृष्ना को अति आग लगैगी ।
सुन्दर इक सन्तोष बिना सठ तेरी भूख कभी न भरैगी ।।

—इसका अर्थ यह हुआ कि यह लोभ कभी समाप्त होनेवाला नहीं । काम की वृत्ति शिथिल पड़ जाती है, क्रोध शान्त हो जाता है, पर लोभ की वृत्ति निरन्तर वर्धमान है, इसीलिए उसका नाम है अक्षय । तभी तो गोस्वामीजी ने भगवान् से जो वरदान माँगा, उसमें लोभ का इसी सन्दर्भ में स्मरण किया । उन्होंने कहा—

कामिहि नारि पियारि जिमि

और उसके साथ साथ जोड़ दिया—

लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।

—'महाराज, कामी का नारी के प्रति जो आकर्षण होता है, मेरा आपके प्रति वैसा ही प्रेम हो । साथ ही लोभी को जैसे धन प्यारा है, आप मुझे वैसे ही प्यारे लगें ।' मन में प्रश्न जागता है कि 'कामिहि नारि पियारि' के बाद 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम' क्यों जोड़ा गया ? गोस्वामीजी को लगा कि कामी में पाने की तो तीव्र उत्कण्ठा होती है, पर उपलब्धि के बाद उसके अन्तःकरण में उतना आकर्षण और उत्साह नहीं रह जाता । तो कहीं भगवान् को पाने के बाद उनके प्रति मेरे प्रेम में वैसी ही न्यूनता न आ जाय इसलिए वे बोले, "प्रभो, जब तक आप मुझे नहीं मिले हैं, तब तक मैं कामी जैसा रहूँ और जब आप मिल

जायँ, तो लोभी हो जाऊँ।" लोभी ही ऐसा है, जिसे प्राप्ति के पश्चात् कभी भी ऐसा नहीं प्रतीत होता कि अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। यही लोभ के साथ 'अपार' शब्द जोड़ने का अभिप्राय है।

तो, रावण के पुत्र मेघनाद और अक्षयकुमार काम और लोभ के प्रतीक हैं। जब हनुमान्‌जी ने अनेक दुर्गुण-दुर्विचाररूपी राक्षसों का नाश कर दिया, तब रावण ने अक्षयकुमार को भेजा। हनुमान्‌जी के चरित्र में लोभ का कोई लेश तो था नहीं। अक्षय उसी को जीत सकता है, जिसके जीवन में कोई लोभ हो। हनुमानजी ने सबको दिलाने का ही कार्य किया। एक सज्जन ने मुझसे पूछा कि लोग भरतजी की उतनी पूजा नहीं करते, जितनी हनुमान्‌जी की करते हैं। भरतजी का चरित्र तो महान् है। मैंने कहा—भई! भरतजी जो वस्तु बाँटते हैं, उसके ग्राहक बहुत कम हैं। तुलसीदासजी कहते हैं—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥ २।३२६

—'जो भरतजी के चरित्र को नियमपूर्वक आदर के साथ सुनेंगे, उन्हें अवश्य ही सीताराम के चरणों में प्रेम होगा और सांसारिक विषय-रस से वैराग्य होगा।' तात्पर्य यह कि भरतजी का चरित्र वैराग्य का देनेवाला है। इधर हनुमान्‌जी स्वयं तो परम वैराग्यवान् हैं, पर जब वे किसी रागी को देखते हैं तो वे उसे जिस वस्तु की चाह होती है वही दे देते हैं। उन्होंने सुग्रीव की आकांक्षा पूरी करा दी, विभीषण की चाह मिटा दी, पर उनके स्वयं के अन्तःकरण में कोई राग नहीं है। एक दिन प्रभु ने हनुमान्‌जी से एकान्त में कहा—"हनुमान्, किष्किन्धा का राज-

पद सामने आया तो उसे तुमने सुग्रीव को दिला दिया। वह तो तुम्हें मिलना चाहिए था, क्योंकि प्रमुख भूमिका तुम्हारी ही थी। और लंका में भी सबसे बड़ी सेवा तुम्हारी ही थी तथा वहाँ का पद भी तुम्हें मिलना चाहिए था, पर वह तुमने विभीषण को दिला दिया। अयोध्या के राजपद पर मैं बैठ गया। अब तो कोई पद बचा ही नहीं जो तुम्हें दूँ।" हनुमान्‌जी ने प्रभु के चरणों को पकड़कर कहा—"महाराज, आप तो मुझे ये ही पद दे दीजिए! अन्य सारे पद बाँट दीजिए। मुझे उनकी कोई आवश्यकता नहीं।" तो, हनुमान्‌जी सचमुच परम निर्लोभी और परम निष्कामी हैं। प्रभु के चरणकमल ही उनके एकमात्र आश्रयस्थल हैं। इसीलिए वे लोभ के प्रतीक अक्षयकुमार को मारने में समर्थ होते हैं।

(क्रमश:)

○

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :— सुरेशचन्द्र दत्त
(उत्तरार्ध)

स्वामी प्रभानन्द

(लेखक रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के सहायक सचिव हैं। प्रस्तुत लेख 'प्रबुद्ध भारत' अँगरेजी मासिक के फरवरी, १९८१ अंक से साभार गृहीत हुआ है। अनुवादक स्वामी श्रीकरानन्द रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं। —स०)

श्रीरामकृष्ण सुरेश-जैसे गृहस्थों को जो विविध उपदेश देते थे, जिनसे सुरेश को अपना जीवन ढालने में सहायता मिली थी, उनमें से कुछ इस प्रकार थे:—

"मोटी स्प्रिंगवाली गद्दी किसी के बैठने से नीचे दब जाती है, पर उसके उठते ही फिर अपनी पूर्ववत् अवस्था में लौट आती है। उसी प्रकार गृहस्थ के अन्दर भी आध्यात्मिक उपदेश क्षणिक धर्म-भावना उत्पन्न कर देते हैं, पर जैसे ही वह घर-गृहस्थी के बीच पहुँचता है, वे भावनाएँ मिट जाती हैं।[1]

"आदमी में जब तक भोग-वासना है, उसे गार्हस्थ्य जीवन के दायित्वों का पालन करना ही चाहिए। वह उस पक्षी के समान है, जो गंगा नदी पर तैरते जहाज के मस्तूल पर अन्यमनस्क हो बैठा है। धीरे धीरे जहाज समुद्र के भीतर पहुँच जाता है। जब पक्षी को होश आता है तब देखता है कि किनारा किसी भी दिशा में नहीं दिख रहा है। वह उत्तर दिशा में जमीन की तलाश में उड़ता है; काफी दूर जाने पर थक गया फिर भी कोई किनारा

---

१. 'श्री रामकृष्णदेवेर उपदेश', पृष्ठ ७२, क्रमांक २१४।

नहीं मिला। लौटकर फिर वह वहीं जहाज के मस्तूल पर बैठ गया। थोड़ी देर बाद वह पक्षी फिर उड़ा, इस बार दक्षिण दिशा की ओर, परन्तु इस दिशा में भी उसे कोई जमीन नहीं मिली; उसे चारों तरफ सिवाय असीमित समुद्र के कुछ नहीं दिखा। बहुत क्लान्त हो वह जहाज पर लौटा और मस्तूल पर बैठ गया। काफी देर विश्राम करने के बाद पक्षी अब पूरब की ओर, और फिर पश्चिम की ओर गया। जब जमीन का कोई चिह्न नहीं दिखाई दिया, तब लौटकर फिर उसी मस्तूल पर बैठ गया। उसने मस्तूल नहीं छोड़ा, अब फिर और प्रयास नहीं किया।"[२]

"क्या संसार छोड़ना ही पड़ेगा? संसार के परिवेश में रहते हुए भी कठिन साधना द्वारा सांसारिकता से मुक्ति मिल सकती है।"[३]

"हे प्रभो, तुमने ही सब कुछ रचा है, तुम्हीं मेरे एकमात्र आश्रयस्थल हो। यह घर-द्वार, सन्तान, पत्नी, मित्र आदि सब कुछ तुम्हारा ही है—यदि कोई इस विश्वास के साथ संसार में रहे, तो निश्चित ही उसे ईश्वर-लाभ हो सकता है।"[४]

"जो संसार में निर्लिप्त रहकर अपने कर्तव्यों का पालन इस बुद्धि से करते हैं कि संसार अनित्य है, उन्हें ईश्वर-लाभ होगा।"[५]

---

२. वही, पृष्ठ २१३-१४, क्रमांक ७७०।

३. वही, पृष्ठ २१४, क्रमांक ७७१।

४. वही, पृष्ठ १८४, क्रमांक ६४९।

५. वही, पृष्ठ १८४, क्रमांक ६४८।

यह सच है कि संसार में निर्लिप्त होकर रहने-जैसा कठिन काम दूसरा नहीं है, फिर भी सुरेश को सांसारिक जिम्मेदारियों के बीच में रहकर आध्यात्मिक साधना के प्रयास में बहुत कुछ सफलता मिली। सुरेश के समीप रहनेवाले अधिकांश लोग, यहाँ तक कि उनका मालिक भी, यह नहीं देख सकते थे कि परिवार की आशा के केन्द्र और सहारे सुरेश सनकी दुर्गाचरण के साथ हो लिये हैं और दक्षिणेश्वर के पागल पुजारी के चरणों में भक्ति-पूर्वक बैठे रहते हैं। जहाँ तक स्वयं सुरेश का प्रश्न था, बीच बीच में कुछ कठिनाई आने पर भी उन्हें इस कठोर नैतिक जीवन को निभाने में किसी प्रकार की असुविधा अनुभव नहीं हुई।

जनवरी १८७८ में केशवचन्द्र सेन द्वारा प्रकाशित श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की छोटी पुस्तिका के बाद सुरेश ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण के उपदेशों को पुस्तक के रूप में निकाला था। 'परमहंस श्रीरामकृष्णेर उक्ति' (बँगला) का प्रथम भाग २३ दिसम्बर १८८४[६] को निकला था। दूसरा भाग १८८६ में श्रीराम-कृष्ण की महासमाधि के शीघ्र बाद निकला। बाद में उसका दूसरा संस्करण 'श्री श्री रामकृष्ण लीला' के नाम से ८ खण्डों में निकला, जिसमें श्रीरामकृष्ण की संक्षिप्त किन्तु पूरी जीवनी के साथ उनके उपदेश भी प्रकाशित हुए थे।[७] ततीय संस्करण जिसमें श्रीरामकृष्ण के सात

---

६. ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय एवं सजनीकान्त दास; 'समसामयिक दृष्टिते श्री रामकृष्ण परमहंस' (कलकत्ता : जनरल प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स), पृष्ठ ११९।

७. 'उद्बोधन', भा० २, सं० ११. पृष्ठ १२५।

सौ पचास उपदेश थे, मार्च १९०९ में मेसर्स एस. सी. मित्रा एण्ड कं; ३८ नन्दलाल डे स्ट्रीट, कुठीघाट, वराह-नगर, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित किया गया। कुछ समय बाद २०० उपदेश और जोड़े गये। पुस्तक की विशिष्टता इसमें थी कि सुरेश ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक विभिन्न स्रोतों से प्राप्त श्रीरामकृष्ण के हृदयस्पर्शी वचनों का अमूल्य संग्रह किया था, जिसमें विभिन्न विषयों पर श्रीरामकृष्ण के विचार थे, स्वयं उनकी एवं दूसरे प्रत्यक्षदर्शियों की भेंट-वार्ताएँ थीं तथा छपी हुई टिप्पणियाँ आदि थीं। जहाँ तक सम्भव हो सका उन्होंने अप्रामाणिक सुनी-सुनायी बातों को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया, और भूमिका में पाठकों के सामने खुली चुनौती रख दी कि उपदेशों में यदि कोई किसी प्रकार की भूल, असत्यता अथवा अतिशयोक्ति सिद्ध कर दे, तो अगले संस्करण में वह दूर कर प्रामाणिक सुधारों को अन्तर्भुक्त कर लिया जाएगा।[8] इसी से अन्दाज होता है कि लेखक ने इस अनुपम पुस्तक को सुसम्बद्ध, यथार्थ और रुचिकर बनाने में कितना परिश्रम किया होगा।

सुरेश इस प्रकार ठाकुर के सन्देश को उत्सुक लोगों में प्रचारित करने में निमित्त बने।[9] निश्चित ही सुरेश

८. 'श्री रामकृष्णदेवेर उपदेश' की भूमिका।

९. इस पुस्तक के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने १८९५ में स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखा था, "सुरेश दत्त का उद्देश्य शुभ है; उसकी पुस्तक भी अच्छी लिखी गयी है; इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे कुछ भला ही होगा। यह अलग बात है कि श्रीरामकृष्ण को उन लोगों ने कितनी गहराई से समझा है?"—'स्वामी विवेकानन्द : वाणी ओ

रामचन्द्र दत्त और मनोमोहन मित्र की भाँति उन प्रथम व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण की जीवित अवस्था में ही, अपनी समझ के अनुसार, इस 'नवीन सन्देश का प्रचार-प्रसार' आम सभा, कीर्तन, शोभायात्रा और पुस्तक तथा पत्रिकाओं के प्रकाशन के माध्यम से किया था।[१०] यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि बाद के उनके बँगला प्रकाशन इस प्रकार हैं—'नारद सूत्र', 'श्री श्री रामकृष्ण समालोचन', 'भगवान श्री रामकृष्ण ओ ब्राह्म समाज', 'श्री श्री रामकृष्ण लीलामृत', इत्यादि । इससे सुरेश की साहित्यिक प्रतिभा के साथ साथ उनका धर्म के प्रति लगाव भी परिलक्षित होता है।

पारिवारिक परिस्थितियों ने उन्हें क्वेटा में सेना की नौकरी करने के लिए बाध्य किया । सीमाक्षेत्र में क्वेटा का महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि वह गान्धार रास्ते की सीमाचौकी था । उन्हें दो सौ रुपया महीने की तन-

---

रचना' (कलकत्ता : उद्‌बोधन कार्यालय, तृतीय सं०), भा० ७, पृष्ठ २५१ । यहाँ स्मरणीय है कि इस प्रकाशन से प्रेरित हो सुबोध चन्द्र घोष (बाद में स्वामी सुबोधानन्द) श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आये थे । तत्कालीन पत्रिकाएँ यथा 'बंगवासी', 'दैनिक', पाठक', आदि ने इस पुस्तक की भूरि भूरि प्रशंसा की थी । देखें शंकरीप्रसाद बसु : 'विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष' (कलकत्ता: मंडल बुक हाउस, १९७६), भा० २, पृ० २६९-७० ।

१०. स्वामी गम्भीरानन्द : History of the Ramakrishna Math and Mission (कलकत्ता: अद्वैत आश्रम, १९५७), पृष्ठ ४१ ।

ख्वाह दी गयी थी । युद्ध के समय ब्रिटिश सरकार पानी की तरह पैसा बहाती थी । इससे सेना के कुछ अफसरों में बेईमानी की प्रवृत्ति जाग उठी थी । सुरेश का ऊपरवाला अफसर सरकार का पैसा खा रहा था और चाहता था कि और अधिक से अधिक हड़पने में सुरेश उसकी सहायता करें । इसके लिए उसने दो-तिहाई और एक तिहाई हिस्से में बँटवारा करने की बात कही । सुरेश की सीधी असहमति ने अफसर की नाराजगी को बढ़ा दिया । बात और अधिक न बिगड़े इसलिए सुरेश ने नौकरी ही छोड़ देनी चाही । परन्तु उनके अफसर ने आपात्स्थिति कह-कर उन्हें नहीं छोड़ा, उलटा अवज्ञा का आरोप लगाकर कोर्ट मार्शल करने की धमकी दी, जिसका सीधा अर्थ होता मृत्युदण्ड । फलस्वरूप सुरेश को कठोर निगरानी में रखा गया ।[११] इन प्रताड़नाओं से विचलित न होते हुए सुरेश ने एक दयालु अँगरेज डाक्टर के पास पहुँच-कर अपनी हृदय की वेदना खोलकर रख दी । उन्होंने डाक्टर से अनुरोध कया कि वे उन्हें नौकरी के लिए स्वास्थ्य ठीक न होने का प्रमाणपत्र दे दें । इसके बावजूद उन्हें और भी कुछ समय तक नौकरी करनी पड़ी । उनकी जगह दूसरा आदमी आने पर ही उन्हें मुक्ति मिली ।

इस कष्टप्रद परिस्थिति से अन्ततोगत्वा छूटकर सुरेश कलकत्ते के लिए रवाना हुए । वापसी में उन्हें जो कष्ट हुआ, उसकी तुलना में नौकरी का असहनीय कष्ट कुछ भी नहीं था । टेंट के बीस रुपये उन्हें बनारस से आगे नहीं ले जा सके । अन्य कोई उपाय न देख वे पैदल

११. 'उद्बोधन', भा० १४, सं० १२, पृष्ठ ७७३ ।

ही निकल पड़े। दयालु लोगों द्वारा कभी कभी प्रदत्त भोजन और गीतापाठ ही उनके रास्ते का सम्बल था। अन्त में भागलपुर में एक दयालु सज्जन ने हावड़े तक का टिकट देकर उनकी मदद की। घर पहुँचकर उन्होंने देखा कि उनका और उनके सबसे छोटे भाई का संयुक्त परिवार इस छोटे भाई द्वारा कमाये जानेवाले २५) मासिक से किसी प्रकार अत्यन्त कष्टपूर्वक अपना गुजर-बसर कर रहा है।

विपरीत परिस्थितियों से अधीर न होते हुए दुर्दमनीय सुरेश ने कभी कुलीगिरी करके तो कभी आलू बेचकर दिन में आधा रुपया कमाकर काम चलाया। कुछ सप्ताह के बाद उन्हें साठ रुपये मासिक वेतन की नौकरी मिल गयी। राहत पा अब सुरेश ने अपना आन्तरिक जीवन गढ़ने की ओर ध्यान दिया।

कलकत्ता लौटने के बाद ही वे तुरन्त श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए गये थे। वे उस समय अत्यन्त अस्वस्थ हो काशीपुर के उद्यान भवन में रह रहे थे। श्रीरामकृष्ण ने उनका हार्दिक स्वागत किया। वे श्रीरामकृष्ण के पास बारम्बार जाने लगे, पर उनके समक्ष मंत्रदीक्षा लेने की उत्तरोत्तर प्रबल होती अपनी इच्छा प्रकट नहीं कर पा रहे थे, क्योंकि श्रीरामकृष्ण का स्वास्थ्य उस जानलेवा बीमारी से गिरता ही जा रहा था। सुरेश किंकर्तव्य-विमूढ़ थे।

१६ अगस्त १८८६ को श्रीरामकृष्ण की महासमाधि का समाचार पा सुरेश दुःख के सागर में डूब गये और बार-बार पश्चात्ताप करने लगे कि उन्होंने दुर्गाचरण की सलाह मानकर पहले ही दीक्षा क्यों नहीं ले ली। अत्य-

धिक शोक के कारण वे कई हफ्ते सो न सके। उनके हृदय में हाहाकार मच गया। गहरी रात में वे अकेले गंगा के तट पर चले जाते और प्रार्थना करते कि कहीं कोई आशा की किरण दिख जाय। एक रात गंगा के किनारे बहुत देर तक प्रार्थना करके वे वहीं पड़े थे। तडके भोर में उन्होंने अत्यन्त आश्चर्य से देखा कि श्रीरामकृष्ण गंगा में से ऊपर आ रहे हैं और आकर उन्होंने उन्हें मंत्र प्रदान करते हुए दीक्षित किया। भक्ति के आवेग में भरकर सुरेश ने आगे बढ़कर श्रीरामकृष्ण के चरणों को छूने के लिए हाथ बढ़ाया ही था कि वे अदृश्य हो गये। श्रीरामकृष्ण की कृपा से प्रेरित हो सुरेश साधनाओं में गहरे डूब गये।

अब ठाकुर के पावन संस्पर्श ने उन्हें ईश्वर-साक्षात्कार के लिए इतना अधिक प्रोत्साहित कर दिया था कि अकसर वे अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए कुछ महीने की आवश्यकताएँ जुटाकर घर से अलग एकान्त में जाकर पूरी तरह अपने को आध्यात्मिक साधना में निमज्जित कर देते।[१२] परिवार के सदस्यों की नाराजगी का कारण बनने पर भी वे प्रायः इसकी पुनरावृत्ति करते रहते। वे लोग शंकित और चिन्तित हो संसार के कर्तव्यों की अवहेलना करने के लिए उनकी कठोर आलोचना करते; परन्तु वे शान्त भाव से सब कुछ सहते और सब समय अपनी अन्तर्चेतना के अनुसार कार्य करते। इधर परिवार के सदस्य सुरेश के हाव-भाव के प्रति अत्यधिक शंकालु होते जा रहे थे और उधर सुरेश में ईश्वर के प्रति विश्वास और शरणागति का भाव

१२. 'प्रबुद्ध भारत', जून १९४८, पृष्ठ २३४।

क्रमशः बढ़ता ही जा रहा था।

यह अद्भुत बात थी कि जैसे जैसे सुरेश ईश्वर पर अधिक से अधिक निर्भर होते जा रहे थे, उनके कम या ज्यादा तनख्वाहवाली एक नौकरी छोड़ने पर उन्हें शीघ्र दूसरी नौकरी मिल जाती, जिससे घर का खर्च निकल जाता। इस प्रकार जरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तुष्ट सुरेश दृढ़तापूर्वक जीवन की अपनी आन्तरिक यात्रा में अग्रसर होते रहे और हमेशा आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य के प्रति दृढ़संकल्प बने रहे।

सांसारिक सुखों के प्रति उदासीन और आध्यात्मिक उपलब्धियों के प्रति इच्छावान् होकर सुरेश ने अपने आपको उस प्रकार के आदर्श गृहस्थ के रूप में गढ़ लिया था, जैसा कि श्रीरामकृष्ण चाहते थे। उनका प्रकरण ऐसा नहीं था कि उनमें अचानक कोई मानसिक क्रान्ति हो गयी हो, जिसके फलस्वरूप मनुष्य सदा के लिए बदल जाता है, बल्कि उनका जीवन एक क्रमबद्ध अन्तर्दृष्टियों का जीवन था, जहाँ हर अन्तर्दृष्टि उन्हें एक निर्णय लेने या कर्मविशेष करने के लिए बाध्य करती। उनका जीवन अन्तर्चेतना की आवाज को, जब भी वह उठे, कार्य में परिणत करने का संकल्प ही अधिक था। तीन दशकों में उनके जीवन में आमूल परिवर्तन साधित हुआ था। उनके जीवन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए अपने एक प्रमुख शिष्य शरत्चन्द्र चक्रवर्ती से स्वामी विवेकानन्द ने भाव-भरे शब्दों में कहा था, "देखो न, ठाकुर ने जिन्हें छू दिया है, वे सोना हो गये हैं।"[13]

१३. 'भक्तमालिका', भा० २ पृष्ठ ४०६।

उजस दिन से श्रीरामकृष्ण ने उनके हृदय को छुआ था, सि दिन से १८ नवम्बर १९१२ को अपनी मृत्यु-पर्यन्त सुरेश अपनी आध्यात्मिक यात्रा में अपने परिवार द्वारा मानो अकेले ही चलने को बाध्य कर दिये गये थे। श्रीरामकृष्ण में दृढ़ विश्वास और अडिग भक्ति रखने-वाला एक निष्ठावान् और दृढ़निश्चयी साधक गृहस्था-श्रम में रहता हुआ भी कैसी आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ पा सकता है, सुरेश इसके जीवन्त उदाहरण बन गये थे। इससे भी अधिक, उनका जीवन दुःखी और पीड़ित संसार में शुभ के रूप में उतरकर लोगों के लिए वर-दानस्वरूप बना था।

यदि सुरेशचन्द्र दत्त ने हमारे लिए कोई सन्देश छोड़ा हो, तो शायद वह यह था:—बस, ईश्वर की शरण ले लो और शान्त रहो तथा उनके प्रति सच्चे बने रहो। अपने और अपने आदर्श के प्रति निष्ठावान् रहो, दूसरी वस्तुएँ अपने आप सुलझ जाएँगी।

○

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

——जब मनुष्य आकाश को चमड़े के समान लपेट लेंगे। तब देव (ईश्वर) को बिना जाने दुःखों का अन्त सम्भव होगा (अर्थात् मनुष्य कभी भी आकाश को चमड़े के समान नहीं लपेट सकेंगे, इसलिए ईश्वर को बिना जाने उनके दुःख कभी नहीं मिटेंगे)।

——श्वेताश्वतर उपनिषद

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्

(गीताध्याय ५, श्लोक २०-२९

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।।५/२०।।

ब्रह्मणि (ब्रह्म में) स्थितः (स्थित) स्थिरबुद्धिः (निश्चल बुद्धिवाला) असंमूढः (संशयरहित) ब्रह्मवित् (ब्रह्मवेत्ता पुरुष) प्रियं (अच्छी लगनेवाली वस्तु को) प्राप्य (पाकर) न (नहीं) प्रहृष्येत् (हर्षित हो) च (तथा) अप्रियं (अच्छी नहीं लगनेवाली वस्तु को) प्राप्य (पाकर) न (नहीं) उद्विजेत् (उद्विग्न हो)।

"ब्रह्म में अवस्थित, निश्चल बुद्धिवाला, संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष न तो प्रिय को पाकर हर्षित हो और न अप्रिय को पाकर उद्विग्न।"

पिछले श्लोक में ऐसे पुरुषों को ब्रह्म में स्थित कहा गया, जिनका मन साम्य में स्थित है। १८वें श्लोक में यह बतलाया कि ऐसे पुरुषों की दृष्टि कैसी होती है। अब यहाँ पर यह बतला रहे हैं कि इनका वर्तन, व्यवहार किस प्रकार का होता है। वैसे प्रस्तुत श्लोक में जो वाक्य-विन्यास है, वह आदेशात्मक है कि ऐसा ब्रह्मवेत्ता प्रिय को पाकर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्त कर उद्वेग का अनुभव न करे। इससे यह ध्वनित होता है कि यह साधक के लिए दिशादर्शन है। श्लोक का ऐसा भाव लेने पर उसका अर्थ यह होगा कि जो व्यक्ति ब्रह्म में अवस्थित होना चाहता है, स्थिरबुद्धि होना तथा मोह और संशय से रहित ब्रह्मवेत्ता होना चाहता है, उसे ऐसा अभ्यास करना चाहिए, जिससे वह प्रिय को पाकर हर्षित और अप्रिय को पाकर

उद्वेलित न हो। यह भी साधना की एक पद्धति है—वस्तुओं के प्रति, व्यक्ति के प्रति साक्षीभाव लाने का एक प्रकार है। साधक के लिए वस्तु भी प्रिय-अप्रिय हो सकती है और व्यक्ति भी। जैसे हम अपनी प्रिय वस्तु पाकर हर्षित हो उठते हैं, वैसे ही जब अपने प्रिय व्यक्ति को देखते हैं, तब भी हमारा हर्षित होना स्वाभाविक है। हम पहले भी कह चुके हैं कि हर्ष और उद्वेग दोनों ही हमारे मानसिक सन्तुलन को बिगाड़ते हैं, दोनों ही मन के लिए चंचलकारक हैं। इसीलिए यहाँ पर कहा जा रहा है कि जो बुद्धि की स्थिरता चाहते हैं, उन्हें हर्ष और उद्वेग दोनों के प्रति असंगता का अभ्यास करना होगा। यह ज्ञानात्मक साधना है।

प्रस्तुत श्लोक का अन्वय एक भिन्न प्रकार से भी किया जा सकता है—"(यः) प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत् च अप्रियं प्राप्य न उद्विजेत् (सः) स्थिरबुद्धिः असंमूढः ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः"—अर्थात् "(जो) प्रिय को पाकर हर्षित न हो और अप्रिय को पाकर उद्विग्न न हो, (वह) स्थिरबुद्धि है, (और इसलिए) मोह-संशय से रहित है, (और इसीलिए) ब्रह्मवेत्ता है, (तथा ऐसे ही व्यक्ति को) ब्रह्म में स्थित (कहा जाता) है।" अब यहाँ पर हर्ष या उद्वेग का न होना कोई आदेशात्मक नहीं है, क्योंकि आदेश देकर किसी को ब्रह्मज्ञ नहीं बनाया जा सकता। वह तो लक्षणात्मक है, ऐसे पुरुष में दिखाई देनेवाले लक्षण को प्रदर्शित करता है। स्थिरबुद्धि कौन है?—वह, जो प्रिय या अप्रिय को पाकर हर्षित या उद्विग्न नहीं होता। ऐसे स्थिरबुद्धि पुरुष को ही सही अर्थों में मोह-संशय से रहित कहा जा सकता है, क्योंकि मोह-संशय अस्थिरता को जन्म देते हैं। जो व्यक्ति मोह-संशय से ऊपर उठ गया,

वही ब्रह्म का वेत्ता हो सकता है और ऐसा ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति ही ब्रह्म में स्थित कहा जा सकता है ।

इस श्लोक को समझने का एक तीसरा प्रकार भी है । यहाँ 'स्थिरबुद्धि', 'असंमूढ', 'ब्रह्मवित्' और 'ब्रह्मणि स्थितः' इन चारों शब्दों को एक ही अर्थ में लिया जा सकता है । जो 'स्थिरबुद्धि' है, वही 'असंमूढ' है, फिर वही 'ब्रह्मवित्' है तथा वही 'ब्रह्मणि स्थितः' है । और ऐसा होने की साधना है—प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में साक्षी-भाव ।

दूसरे अध्याय के ५६वें श्लोक में भी, स्थितप्रज्ञ के लक्षण बतलाते हुए, लगभग यही बात कही गयी है । अन्तर इतना है कि वहाँ 'सुख' और 'दुःख' शब्दों का प्रयोग हुआ है, जबकि यहाँ पर 'प्रिय' और 'अप्रिय' शब्दों का । वहाँ पर सुख के प्रति स्पृहा का अभाव कहा है, यहाँ पर प्रिय की प्राप्ति पर हर्ष का अभाव । वहाँ पर कार्य की, फल की दृष्टि से बात कही गयी है, यहाँ पर कारण की दृष्टि से, क्योंकि प्रिय की प्राप्ति ही सुख का कारण होती है और अप्रिय की प्राप्ति दुःख का ।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।५/२१।।

बाह्यस्पर्शेषु (बाहरी विषयों के स्पर्श में) असक्तात्मा (आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष) आत्मनि (अन्तःकरण में) यत् (जो) सुखं (सुख) विन्दति (प्राप्त करता है) [तत =वह] अक्षयं (अक्षय) सुखं (सुख) सः (वह) ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (ब्रह्मयोग में स्थित रहनेवाला पुरुष) अश्नुते (अनुभव करता है) ।

"बाहरी विषयों के स्पर्श के प्रति जिसका अन्तःकरण आसक्ति

से रहित है, वह अपने भीतर जिस सुख को प्राप्त करता है (उस) अक्षय सुख का अनुभव ब्रह्मयोग में स्थित रहनेवाला पुरुष (भी) करता है।"

पूर्व श्लोक में प्रिय और अप्रिय से अछूता रहने की बात कही। कौन इस प्रकार अछूता रह सकता है?—वह, जिसका अन्तःकरण बाह्य विषयों के उपभोग की ओर न जाता हो। जिसके मन में विषयों के लिए आसक्ति भरी होगी, वह कभी प्रिय-अप्रिय के द्वन्द्व से उबर नहीं सकता। प्रिय लगनेवाली वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति उसके मन में खिचाव रहेगा ही तथा अप्रिय वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति द्वेष-बुद्धि होगी। ऐसी दशा में वह कभी भी यथार्थ सुख का अनुभव नहीं कर पाएगा। पर जो साधक अपनी साधना के फलस्वरूप अपने को बाहरी विषयों की आसक्ति से मुक्त रख सकता है, वह अपने ही भीतर ऐसे सुख का अनुभव करेगा, जो अक्षय है। विषयों की अपेक्षा से मिलनेवाला सुख क्षणिक होता है, कुछ समय पश्चात् उसका नाश हो जाता है। पर जहाँ पर विषयों की अपेक्षा नहीं होती, वहाँ होनेवाला सुख बराबर बना रहता है, क्योंकि वह अपने स्वरूप से उपजता है और स्वरूप अविनाशी है।

तब मैं हिमालय में एक महात्मा के पास जाया-आया करता था। वे विद्वान् तो उतने नहीं थे, पर उनके जीवन में सरलता और शुचिता थी। उनके इस गुण के कारण
में सरलता और शुचिता थी। उनके इस गुण के कारण
कई लोग उनके शिष्य बन गये थे। उनमें ब्रह्मचारी-संन्यासी भी थे, फिर गृहस्थ भी। पुरुष भी थे, महिलाएँ भी। विशेष पर्वों में उनके आश्रम में भक्तों की अच्छी खासी भीड़ उपस्थित हो जाती। मैंने लक्ष्य किया कि वहाँ के

एक अन्तेवासी ने भले ही त्याग का जीवन अपनाया था, पर एक युवती के प्रति उसका मानसिक लगाव हो गया। जब वह आती, तो वह बड़ा उल्लसित रहता और जब न आती, तो खिन्न हो जाता। विशेष पर्व पर वह बार-बार आश्रम के बाहर निकलता और देखता कि वह आयी या नहीं। यह बाह्य विषय के प्रति आसक्ति का नमूना है। इससे बुद्धि की स्थिरता समाप्त हो जाती है। वह अन्तेवासी था तो निष्ठावान् साधक, पर उसकी आसक्ति ने उसके सुख को छीन लिया था। लड़की यदि अन्य किसी अन्तेवासी से बातचीत करती तो वह उद्विग्न हो जाता, वह यही चेष्टा करता कि जब तक लड़की वहाँ है, उसी के पास रहे, उसी से बातचीत करे। महात्माजी यह देखकर चिन्तित थे। तरह-तरह से उन्होंने उस अन्तेवासी को समझाने की चेष्टा की, पर विशेष फल न हुआ। तब लड़की के पिता से कहकर महात्माजी ने लड़की का विवाह दूर स्थान पर करा दिया। इससे अन्तेवासी को पहले तो धक्का लगा, पर उसकी साधननिष्ठा और गुरुकृपा दोनों ने मिलकर उसे सम्हाल लिया। वह इस धक्के से अन्तर्मुखीन हुआ और धीरे-धीरे बाहर के विषयों की आसक्ति से मुक्त होकर स्वाध्याय-चिन्तन-ध्यान-जनित आनन्द में डूब गया।

इस घटना के आधार पर प्रस्तुत श्लोक को समझा जा सकता है। लड़की से मिलने में उस अन्तेवासी को जो सुख मिलता था, वह क्षणिक था और वही उसके दुःख का कारण भी था। गुरुकृपा से उसकी वह आसक्ति दूर हुई तो अपने में डूब गया। बाहर के विषयों का कोई आकर्षण उसके जीवन में नहीं रह गया। यह सुख उसके

लिए क्षणिक न हो, नित्य हो गया ।

तो, विवेच्य श्लोक में यह बतलाया जा रहा है कि विषयों के प्रति जिसके अन्त:करण में आसक्ति नहीं है, वह जिस सुख का अनुभव करता है, वह अक्षय है । और ऐसा ही अक्षय सुख 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' भी अनुभव करता है । आचार्य शंकर इस शब्द पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—'ब्रह्मणि योगः समाधिः ब्रह्मयोगः तेन ब्रह्मयोगेन युक्तः समाहितः तस्मिन् व्यापृत आत्मा अन्तःकरणं यस्य स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ।' अर्थात् 'ब्रह्म में योग को, समाधि को प्राप्त होना ब्रह्मयोग है, ऐसे ब्रह्मयोग से जिसका आत्मा यानी अन्तःकरण युक्त है, समाहित है, वह ब्रह्मयोग-युक्तात्मा है ।' इसका सरल तात्पर्य यह है कि 'ब्रह्मयोग-युक्तात्मा' वह है, जिसका मन उस सच्चिदानन्द परतत्त्व में एकीभाव से स्थित हो गया है, तथा जो ब्रह्मात्मैक्य-बोधरूप सिद्धि को छोड़ और कोई सिद्धि नहीं मानता । ऐसा व्यक्ति भी उसी अक्षय सुख का अनुभव करता है, जिसका अनुभव बाह्य विषयों के प्रति अनासक्त व्यक्ति करता है ।

इस तथ्य के द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि बाह्य विषयों के प्रति अनासक्ति की अवस्था तथा ब्रह्म में स्थित होने की अवस्था—ये दोनों वस्तुतः एक ही हैं, क्योंकि दोनों का अक्षय सुखरूप एक ही फल होता है । अन्य दृष्टि से भी विचार करने पर दोनों अवस्थाएँ एक ही सिद्ध होती हैं । बाह्य विषयों में मन का अनासक्त होना यह ध्वनित करता है कि उसकी वृत्तियाँ निश्चंचल हो रही हैं । मन का विषयों की ओर भागना ही उसकी चंचलता है । मन के चंचल रहते व्यक्ति आत्मसुख का अनुभव नहीं

कर पाता। जब मन शान्त होता है, तब आत्मा के होने का सहज सुख अपने आप भीतर अनुभव होता है। प्रकारान्तर से मन के शान्त होने को आत्मानुभव की अवस्था माना गया है। सुषुप्ति में हमें प्रतिदिन इसका आभास प्राप्त होता है। इस अवस्था में मन की वृत्तियाँ सो जाती हैं, फलस्वरूप हमें ऐसे सुख का बोध होता है, जिसकी तुलना हम किसी भी इन्द्रिय या विषयजन्य सुख से नहीं कर सकते। हम विषयों का बड़े से बड़ा सुखभोग करें, पर अन्त में सुषुप्ति में जाने की चाह बनी ही रहती है। या यों कहें कि नींद का आकर्षण इतना जबर्दस्त होता है कि हम बड़े से बड़ा विषय-भोग छोड़कर उसमें चले जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि सुषुप्ति का सुख समस्त विषय-सुख से बढ़कर है। हम सुषुप्ति के इस सुख का आभास प्रकट करते हुए कहते भी हैं--'सुखमहम् अस्वाप्सम्' (मैं बहुत सुख की नींद सोया)।

प्रश्न उठता है कि यदि सुषुप्ति का सुख लौकिक विषयों म प्राप्त होनेवाले सुख से बढ़कर है, तब फिर वह लौकिक विषय-सुख के समान ठोस क्यों नहीं मालूम पडता? इसका उत्तर यह है कि लौकिक सुख तो बुद्धि की वृत्तिरूप होता है, पर सुषुप्ति में बुद्धिवृत्ति के भी सो जाने से मात्र अज्ञानवृत्ति रहती है। बुद्धिवृत्ति से अनुभव में आनेवाली भावना जिस प्रकार ठोस और स्फुट होती है, अज्ञानवृत्ति वैसी ठोस या स्फुट अनुभूति को जन्म नहीं देती। किन्तु उससे सुषुप्ति के सुख का एक आभास अवश्य मिल जाता है।

तब दूसरा प्रश्न उठता है--यदि सुषुप्ति में आत्मसुख का आभास मिल जाता हो, तो हम मुक्ति के

लिए इतनी झंझटें क्यों करें ? इसका उत्तर यह है कि एक तो सुषुप्ति में मिलनेवाला सुख मात्र आभास ही है, वास्तव नहीं, क्योंकि वह अज्ञान के आवरण में लिपटा हुआ यथार्थ है । हम वस्तुतः यथार्थ को चाहते हैं, उसके अज्ञान से ढके स्वरूप से हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते । और दूसरे, सुषुप्ति का सुख भले ही हमें रोज मिलता हो, पर वह है नश्वर, और हम चाहते हैं अक्षय सुख । यह अक्षय सुख हमें चित्त की सज्ञान निश्चंचलता से ही प्राप्त हो सकता है ।

विवेच्य श्लोक में चित्त की निश्चंचलता के दो रूप प्रदर्शित हुए हैं—एक वह है, जो बाहरी विषयों के प्रति असंगता से साधित होता है और दूसरा वह, जो ब्रह्मतत्त्व में मन को निविष्ट करने से प्राप्त होता है । एक रूप वह है, जो विषयों के निषेध की प्रक्रिया से हस्तगत होता है और दूसरा वह, जो ब्रह्मवस्तु में डूबने की प्रक्रिया से ।

अब आगे के श्लोक में इन विषय-भोगों के आकर्षण से मुक्त होने का उपाय बतलाते हुए कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।। ५/२२।।

ये (जो) संस्पर्शजाः (इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले) भोगाः (भोग हैं) ते (वे) हि (निस्सन्देह) दुःखयोनयः एव (दुःख के ही हेतु हैं) आद्यन्तवन्तः (आदि और अन्त वाले अर्थात् अनित्य हैं) कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्र) बुधः (बुद्धिमान् विवेकी पुरुष) तेषु (उनमें) न (नहीं) रमते (रमता) ।

"(ये) जो इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले भोग हैं, वे निस्सन्देह दुःख के ही हेतु हैं (तथा) आदि-अन्तवाले (होने से अनित्य) हैं। (अतएव) हे कुन्तीपुत्र, बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमते ।"

यहाँ पर इन्द्रिय-विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले भोगों के लिए दो विशेषण लगाये गये हैं—'दुःखयोनयः' एवं 'आद्यन्तवन्तः'। 'दुःखयोनि' का तात्पर्य है 'दुःख को जन्म देनेवाला', 'दुःख का कारण'। 'आद्यन्तवन्त' वह है जिसके प्रारम्भ है और नाश। इन्द्रिय-भोगों का प्रारम्भ और नाश सहज ही समझ में आता है। इन्द्रियाँ जब तक अपने विषयों के संसर्ग में रहेंगी, सुख की संवेदना को जन्म देंगी। यह भोग का प्रारम्भ है। पर यह संसर्ग हरदम नहीं रहता। संसर्ग के टूटने से संवेदना का क्रम भी टूट जाता है। यही भोग का अन्त है। तो, इन्द्रिय-संस्पर्श से उपजनेवाला कोई भी भोग क्यों न हो, उसका जैसे प्रारम्भ है, वैसे ही उसका अन्त भी। ऐसे अनित्य भोगों के पीछे क्यों दौड़ना, जब हमें आत्मा और आत्मा का शाश्वत सुख नित्य प्राप्त है? हम अनित्य सुख के पीछे भागकर उसे तो पकड़ ही नहीं पाते, उलटे जो नित्य और हमारा अपना सुख है उसे भी गँवा बैठते हैं।

फिर, ये संस्पर्शज भोग दुःख के हेतु भी हैं। रसना के द्वारा मैं स्वाद का सुख लेता हूँ। कितनी देर ले सकता हूँ?—तब तक जब तक मेरा पेट भरा नहीं है। पेट भरने में कितनी देर लगती है? आधा घण्टा या अधिक हुआ तो एक घण्टा। फिर उसके बाद रसना से अपनी प्रिय वस्तु का भोग करने की बात तो दूर, मैं आँखों से भी उसकी ओर नहीं देख पाता, मुझे उबकाई आती है। रसना का वही भोग मेरे लिए अब दुःख का हेतु बन गया। हमारे हर इन्द्रिय-भोग पर यह बात लागू होती है।

फिर, इन्द्रियों और विषयों का सम्पर्क हमेशा सुख की संवेदना को ही नहीं जन्म देता। चक्षु से अपनी प्रिय

वस्तु को देखकर जैसे हम प्रसन्न होते हैं, वैसे ही अप्रिय वस्तु को देखकर दुःखी भी। फिर, हमारी वह प्रसन्नता भी टिकाऊ नहीं है, वही कुछ देर बाद दुःख में बदल जाती है, क्योंकि इन्द्रिय का संसर्ग तो टूटता ही है। इस सन्दर्भ में 'पातंजलयोगसूत्र' के द्वितीय पाद का १६वाँ सूत्र महत्त्वपूर्ण है, जिसमें कहा गया है—'परिणामतापसंस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'—अर्थात् 'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकार के दुःख सबमें विद्यमान रहने के कारण तथा तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी पुरुष के लिए सब के सब भोग दुःखरूप ही हैं।'

भोग का जो दुःखरूप परिणाम होता है, उसे 'परिणाम-दुःख' कहते हैं, जिसकी चर्चा हमने ऊपर में की है। जब हम किसी के पास अपने से अधिक भोग-सामग्री देखते हैं, या जब हमें अपनी इच्छानुसार भोग नहीं मिलता, या फिर भोग की लालसा होते हुए भी जब हममें भोग भोगने की सामर्थ्य नहीं होती, अथवा भोगों के पास रहते हुए भी जब उनके बिछुड़ जाने की आशंका हमें सन्तप्त करती रहती है, तो यह 'तापदुःख' है। और जब भोग किसी कारणवश बिछुड़ जाते हैं, तो उनका स्मरण कर-करके जो दुःखी होना है, यह 'संस्कारदुःख' है।

इस भाँति तरह-तरह से विवेचन करके हम एक ही सत्य पर पहुँचते हैं कि विषय-भोग नश्वर और दुःख के हेतु हैं। ऐसा जानकर 'बुद्धिमान् और विवेकी पुरुष' उनमें नहीं रमते। सामान्य व्यक्ति ऐसी विवेचना नहीं कर पाता, क्योंकि उसकी बुद्धि जड़ होती है और उस पर इन्द्रियों की पकड़ गहरी होती है। 'बुधः'—विवेकी,

बुद्धिमान् पुरुष—ही ऐसी विवेचना करने में समर्थ होता है, क्योंकि सूक्ष्म बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति ही विवेक का आश्रय ले पाता है और इस प्रकार भोगों के आकर्षण से अपने को ऊपर उठा लेता है। भगवान् भाष्यकार 'बुधः' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'बुधो विवेकी अवगत-परमार्थतत्त्वः, अत्यन्त मूढानाम् एव हि विषयेषु रतिः दृश्यते, यथा पशुप्रभृतीनाम्'—'बुद्धिमान् वह है, जो परमार्थतत्त्व को जानकर विवेकशील हो गया है, क्योंकि अत्यन्त मूढ़ पुरुषों की ही पशु आदि की भाँति विषयों में प्रीति देखी जाती है।'

शक्नोतीहैव यः सोढं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२/२३॥

यः (जो) नरः (मनुष्य) शरीरविमोक्षणात् (शरीर के नाश होने से) प्राक् (पहले) इह (इस जीवन में) एव (ही) कामक्रोधोद्-भवं (काम और क्रोध से उत्पन्न हुए) वेगं (वेग को) सोढुं (सहन करने में) शक्नोति (समर्थ है) सः (वह) युक्तः (योगी है) [च=और] सः (वही) सुखी (सुखी है)।

"जो पुरुष (अपने) शरीर के नाश से पूर्व इस जीवन में ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहने में समर्थ है, वही योगी है (और) वही सुखी।"

यहाँ पर सच्चे योगी और सुखी नर की व्यावहारिक परिभाषा कर रहे हैं। कहते हैं कि जो पुरुष भोगों को दुःखयोनि समझकर उनके आकर्षण से अपने को बचा लेता है तथा जीते-जी काम और क्रोध के वेगों को जीतकर मृत्युपर्यन्त उन्हें सह लेता है, वही सही मायने में योगी और सुखी है। हम वेदविद्याविशारद हो सकते हैं, लेखन और

भाषण के द्वारा अपने अगाध पाण्डित्य को कौशलपूर्वक प्रकट कर दुनिया को अभिभूत करने में समर्थ हो सकते हैं, योग की तरह-तरह की क्रियाएँ प्रदर्शित कर श्रेष्ठ योगी का खिताब भी हासिल कर सकते हैं, पर प्रश्न यह है कि क्या हम काम और क्रोध के वेगों को मरते दम तक जीतने में समर्थ हुए हैं ? यदि नहीं, तो हमारा पाण्डित्य वृथा है और न हम योगी हैं, न सुखी।

'गीता' में ही, तीसर अध्याय के ३७वें श्लोक में, काम और क्रोध को 'महापेटू', 'महापापी' और 'वैरी' कहा है। इनको जीतना मानव-जीवन का सबसे बड़ा चमत्कार है। वसिष्ठ गुफा के तपस्वी स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी कहा करते थे—लोग योगज सिद्धियों का चमत्कार दिखाकर लोगों को विस्मयाभिभूत करते हैं और योगिराज की पदवी पाते हैं, पर ऐसे योगिराज भी काम और क्रोध के वेगों द्वारा पछाड़ दिये जाते हैं। सबसे बड़ी सिद्धि तो ऐसे वगों को सहने में है, और इनको सह लेनेवाला व्यक्ति ही सही मायने में योगी है। ऐसा योगी ही सच्चे अर्थों में सुखी होता है।

आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में कहा है कि काम-क्रोध के इस वेग के अनन्त रास्ते हैं—'अनन्तनिमित्तवान् हि सः'। हमारी सारी सावधानी के बावजूद जाने कहाँ से यह वेग हममें घुस आता है और हमें व्यथित कर देता है। इसलिए वे हमें चेतावनी देते हैं कि मरणपर्यन्त सावधान रहो, मरते दम तक काम-क्रोध का विश्वास न करो—'यावत् मरणं तावत् न विश्रम्भणीयः'। पता नहीं किस सूराख से वह प्रविष्ट हो जाय। स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द के पास आकर एक साधक

किसी भक्त महिला की प्रशंसा करने लगा। उन्होंने तुरन्त उसे रोका और बँगला की एक कहावत दुहराते हुए कहा—'मरबे नारी उड़बे छाइ, तबे नारीर गुण गाइ'—जब नारी मर जाएगी—और यही नहीं, जब वह चिता पर जलकर खाक बनकर उड़ने लगेगी, तब नारी के गुण गाना। कैसी सावधानी है! नारी मर जाए तब भी गुण मत गाओ, यानी तब भी मन फिसल सकता है। जब वह मरकर जल जाए और राख उड़ने लगे, तब उसके गुण गा सकते हो! काम का वेग ही ऐसा है!

जो काम-क्रोध के वेग को जीत लते हैं, उनकी अवस्था कैसी होती है तथा वे ब्रह्म में किस प्रकार निर्वाण को प्राप्त होते हैं, इसका वर्णन आगे के तीन श्लोकों में किया गया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।५/२४।।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।५/२५।।
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।५/२६।।

यः (जो) अन्तःसुखः [एव] (भीतर आत्मा में ही सुख मानता है) अन्तरारामः [एव] (भीतर आत्मा में ही विश्राम का अनुभव करता है) तथा (तथा) यः (जो) अन्तर्ज्योतिः एव (भीतर आत्मा के ही आलोक से प्रकाशित है) सः (वह) योगी (योगी) ब्रह्मभूतः (ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त हुआ) ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्मनिर्वाण को) अधिगच्छति (प्राप्त होता है)।

"जो पुरुष अपने भीतर आत्मा में ही सुख मानता है और आत्मा

में ही विश्राम का अनुभव करता है तथा जो अपने भीतर (सब कुछ) आत्मा के ही आलोक से प्रकाशित देखता है, वह योगी ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त हुआ ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है।"

क्षीणकल्मषाः (निष्पाप) छिन्नद्वैधाः (संशयशून्य) यतात्मानः (जितेन्द्रिय) सर्वभूतहिते (समस्त प्राणियों के हित में) रताः (रत रहनेवाले) ऋषयः (ऋषिजन) ब्रह्मनिर्वाणं (ब्रह्मनिर्वाण को) लभन्ते (प्राप्त होते हैं)।

"जिनके पाप क्षीण हो गये हैं और संशय का नाश हो गया है, जो संयत चित्तवाले हैं तथा समस्त प्राणियों का हित करने में निरत रहते हैं, ऐसे ऋषिजन ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होते हैं।"

कामक्रोधवियुक्तानां (काम-क्रोध से मुक्त हुए) यतचेतसां (संयत चित्तवाले) विदितात्मनां (आत्मवेत्ता) यतीनां (यतियों के लिए) अभितः (सब ओर से) ब्रह्मनिर्वाणं (ब्रह्मनिर्वाण) वर्तते (है)।

"काम-क्रोध से मुक्त हुए, संयत चित्तवाले, आत्मवेत्ता यतियों के लिए तो सभी ओर से ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त है।"

जिसने काम-क्रोध के वेग को जीत लिया, वह 'योगी' है; फिर उसे बाहर के विषय आकर्षित नहीं कर पाते। फलस्वरूप वह अन्तर्मुखी बन जाता है और भीतर ही आत्मा के सुख का स्वाद पा उसी में रम जाता है। वह अनुभव करता है कि आत्मा की ज्योति ही मन-बुद्धि-अहंकार सबको प्रकाशित कर रही है। उसकी यह अनुभूति जितनी तीव्र होती है, उसका मन उतना ही उस परमतत्त्व ब्रह्म में एकीभाव को प्राप्त होने लगता है और अन्त में वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

'ब्रह्मनिर्वाण' शब्द पूर्व में भी, दूसरे अध्याय के

अन्तिम श्लोक में, आ चुका है। हमने अपने ४४वें गीता-प्रवचन में इस शब्द की विस्तार से व्याख्या की है। 'ब्रह्म-निर्वाण' का अर्थ होता है ब्रह्म में लीन हो जाना। चित्त-वृत्तियों का निरुद्ध होना और चित्त का ब्रह्माकार हो जाना ही ब्रह्मनिर्वाण की अवस्था है। आचार्य शंकर के अनुसार 'ब्रह्मणि निर्वृत्ति मोक्षम् इह जीवन् एव' (यहाँ जीते-जी ही ब्रह्म में लीन होनारूप मोक्ष) 'ब्रह्मनिर्वाण' कहलाता है। यह जीवन्मुक्ति की अवस्था है।

२५वें श्लोक में बतलाया कि ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करने वाले ऋषि 'क्षीणकल्मष', 'नष्टसंशय', 'जितेन्द्रिय' और 'सर्वभूतहित में रत' होते हैं। 'ऋषि' का अर्थ है ज्ञानी, क्योंकि 'ऋष्' धातु ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। तो, ऋषि वे हैं, जो ज्ञान को, विवेक को महत्त्व देते हैं। यहाँ ऋषि के चार विशेषण दिये गये हैं--(१) जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, (२) जिनका परमतत्त्व सम्बन्धी संशय छिन्न-भिन्न हो गया है, (३) जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है और (४) जो सर्वदा दूसरों के हित में ही कालयापन करते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्मनिर्वाण की अवस्था प्राप्त करने के लिए साधक के जीवन म ज्ञान के साथ ही साथ इन चार बातों का होना भी आवश्यक है। इसे यों भी कह सकते हैं कि ज्ञान जब बौद्धिक धरातल से व्यावहारिक धरातल पर उतरता है, तो ये चार फल साधक के जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं। जब ज्ञान बुद्धि से आचरण में उतरता है, तो वह कल्मष को दूर करता है, आत्मा-ईश्वर सम्बन्धी संशय का छेदन करता है और साधक को अपने ऊपर नियंत्रण रखने का बल प्रदान करता है। फिर, ज्ञान यह भी बतलाता है कि

जो ब्रह्म मेरे भीतर है, वह समस्त भूतात्मक जगत् में भी व्याप्त है। ज्ञानी सबके भीतर अपनी अवस्थिति का अनुभव करता है और इसलिए सबके हित में लगा रहता है। आत्म-बोध से बढ़कर हितकारी और क्या हो सकता है? ऐसे व्यक्ति का चित्त ब्रह्म में लीनता को प्राप्त करता है।

२६वें श्लोक में कहा कि जिन यतियों का जीवन काम-क्रोधादि विकारों से रहित हो गया, जिन्होंने चित्त को वश में करके अपने संस्कारों पर विजय पा ली तथा जो आत्मज्ञान से युक्त हो गये, उन ज्ञानियों को तो सभी ओर से ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त है।

यहाँ पर ज्ञान का ही प्रसंग चलने के कारण 'यति' का अर्थ वह आत्मसंयमी तत्त्वज्ञानी लेना युक्तियुक्त होगा, जो सांख्ययोग का सहारा लेकर परमात्मा को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है। वेदान्त की प्रक्रिया में मल, विक्षेप और आवरण को ज्ञान के तीन महान् प्रतिबन्धक दोष माने गये हैं। ज्ञानी इन तीनों दोषों का वर्जन कर ब्रह्मनिर्वाण में कैसे पूर्णतः प्रतिष्ठित हो जाता है इसी का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया जा रहा है। 'काम-क्रोध से वियुक्त होना' मल-दोष के नाश का सूचक है, 'यतचेतसाम्' विक्षेप-दोष के नाश का तथा 'विदितात्मनाम्' आवरण-दोष के नाश का।

यहाँ पर यह भी कहा गया कि ऐसे ज्ञानी यतिजनों को सब ओर से ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के रहते तक वे जीवन्मुक्त होकर विचरण करते हैं और शरीर का नाश होने पर विदेहमुक्ति या कैवल्यमुक्ति के अधिकारी होते हैं। मतलब यह कि उन्हें

सभी अवस्थाओं में, सर्वत्र, सब समय उस ब्रह्म की ही अनुभूति होती है ।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।५/२७।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।५/२८।।

बाह्यान् (बाहरी) स्पर्शान् (विषयों को) बहिः (बाहर) एव (ही) कृत्वा (रखकर) चक्षुः (नेत्रों की दृष्टि को) भ्रुवोः (भौंहों के) अन्तरे (बीच में) [स्थापयित्वा=स्थापित करके] च (और) नासाभ्यन्तरचारिणौ (नासिका में संचरणशील) प्राणापानौ (प्राण और अपान वायु को) समौ (सम) कृत्वा (करके) यतेन्द्रियमनोबुद्धिः (इन्द्रिय, मन और बुद्धि को संयत कर लेनेवाला) विगतेच्छाभयक्रोधः (इच्छा, भय और क्रोध से रहित) मोक्षपरायणः (मोक्षपरायण) यः (जो) मुनिः (मुनि है) सः (वह) सदा (सदा) मुक्तः (मुक्त) एव (ही है) ।

"बाहर के विषयों को बाहर ही रखकर, दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थापित करके तथा नासिका में विचरनेवाली प्राण एवं अपान वायु को सम करके जिस मोक्षपरायण मुनि ने इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जीत लिया है तथा जो इच्छा, भय और क्रोध से ऊपर उठ चुका है, वह तो सदा-सर्वदा मुक्त ही है ।"

इन दो श्लोकों में आगे के छठे अध्याय—ध्यानयोग—की भूमिका प्रस्तुत की गयी है । ध्यानयोग भी इन्द्रिय, मन और बुद्धि को अपने नियंत्रण में लाने का उपाय है । 'गीता' में बहुधा हम देखते हैं कि आगे के अध्याय में जो कहना है, उसे सूत्ररूप में पूर्व अध्याय में कह दिया गया है । यहाँ बताया जा रहा है कि बाह्य विषयों को बाहर ही

छोड़ दो। 'स्पर्श' का अर्थ है विषय'—'स्पृश्यन्ते इन्द्रियैः इति स्पर्शाः विषयाः'—इन्द्रियों के द्वारा जिनका स्पर्श किया जाय, वे विषय हैं। हम इन बाह्य विषयों की तनिक चिन्ता न करें और अपनी दृष्टि को भौंहों के बीच केन्द्रित कर लें। फिर नाक के छिद्रों में विचरण करनेवाली प्राण और अपान वायु को सम कर लें। यह विद्या 'प्राणायाम' कहलाती है। प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं, पर हमें उसके जटिल प्रकारों में जाने की आवश्यकता नहीं। हम तो बस उसका उतना ही अभ्यास करें, जिससे प्राण और अपान की गति को सम करने में सहायता मिले। सामान्यतः हमारी एक नासिका अधिक भरी होती है, इसलिए प्राण और अपान की गति विषम होती है। पर हम प्राणायाम के अभ्यास से ऐसा कर सकते हैं कि दोनों नासिकाओं में प्राण-अपान की गति समान हो जाय। इससे कुम्भक स्वतः सिद्ध होता है। फलस्वरूप इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये साधक के ताबे में आने लगते हैं। प्राण-अपान की समता से इन्द्रियों की चंचलता दूर होती है और वे बाहर न जा अपने गोलकों में स्थिर होने लगती हैं। मन प्राण-अपान की गति के साथ एकरूप होने लगता है तथा वह धीरे धीरे बुद्धि को भी अपने पास खींच लेता है। इससे इच्छा, कामना, चाह खत्म होती है और ऐसा नहीं लगता कि कुछ पाऊँ। कुछ खोने का भय भी समाप्त हो जाता है। तब पाने योग्य मात्र सत्य ही लगता है और खोने को तो कुछ होता नहीं। इच्छा और भय की वृत्तियों के अभाव में क्रोध भी नहीं-सा हो जाता है; क्योंकि क्रोध या तो तब आता है, जब इच्छा पर कोई रोक लगती हो या वह अपूर्ण रह जाती हो अथवा तब जब

कोई हमें डरा देता हो। इस प्रकार मुनि इच्छा, भय और क्रोध से मुक्त हो जाता है। यह सब वह क्यों करता है ?—इसलिए कि वह 'मोक्षपरायण' है, उसकी निष्ठा मोक्ष में है। 'मुनि' वह है, जो मननशील है, जो सर्वदा परमात्म-तत्त्व का मनन करता रहता है। तो, ऐसा जो महापुरुष उपर्युक्त साधनों द्वारा इन्द्रिय-मन-बुद्धि को अपने नियन्त्रण में ले इच्छा, भय और क्रोध से सर्वथा रहित हो जाता है, वह ध्यान-चिन्तन के समय हो या व्यवहार के समय, शरीर के रहते हो या शरीर के छूट जाने पर—सभी अवस्थाओं में सदा मुक्त ही रहता है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।५/२९।।

मां (मुझे) यज्ञतपसां (यज्ञ और तपों का) भोक्तारं (भोक्ता) सर्वलोकमहेश्वरं (सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर का भी ईश्वर) सर्वभूतानां (समस्त प्राणियों का) सुहृदं (सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित उपकारी और प्रेमी) ज्ञात्वा (जानकर) शान्ति (शान्ति को) ऋच्छति (प्राप्त होता है)।

"मुझे यज्ञ और तपों का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर का भी ईश्वर (तथा) समस्त प्राणियों का (स्वार्थरहित उपकारी) सुहृद् जानकर वह शान्ति को प्राप्त हो जाता है।"

पूर्व के श्लोकों में जीवन्मुक्ति की अवस्था का भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपण किया गया। २७ वें और २८ वें श्लोकों में ध्यानयोग की पद्धति का भी संकेत किया, और अब यहाँ पर यह बतलाते हुए अध्याय का उपसंहार कर रहे हैं कि वह परमेश्वर अपने भक्त के समक्ष किस रूप में प्रकट होते हैं। यहाँ ईश्वर के लिए तीन विशेषण लगाये

गये—(१) भोक्तारं यज्ञतपसाम्, (२) सर्वलोकमहेश्वरम् और (३) सुहृदं सर्वभूतानाम् ।

(१) भोक्तारं यज्ञतपसाम्—ईश्वर यज्ञ और तप आदि के भोक्ता हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जीव को जो भोक्ता कहा जाता है, वह भले ही लौकिक दृष्टि से सही दिखे, पर परमार्थ-दृष्टि से तो ईश्वर ही भोक्ता हैं। एक विषयी संसारी व्यक्ति भले ही अपने को कर्ता और भोक्ता माने, पर साधक अनुभव करता है कि वे प्रभु ही उसके भीतर विराजमान होकर एक ओर कर्ता के रूप में उससे कर्म करा ले रहे ,हैं और दूसरी ओर जिन मनुष्यों या देवताओं के लिए दान-यज्ञ आदि कर्म किये गये, उनके भीतर विराजमान होकर उन कर्मों का भोग कर रहे हैं। यहाँ पर यज्ञ और तप उपलक्षण हैं, वस्तुत: इनके भीतर सभी शुभ कर्मों का समावेश हो जाता है। 'गीता' में (१८।५) कहा गया है कि 'यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्'—यज्ञ, दान और तप-रूप कर्मों को नहीं त्यागना चाहिए, अपितु वे करणीय हैं। जब करणीय ही हैं, तो किस प्रकार करें ?—यही मानकर कि ईश्वर ही यजमान के भीतर बैठकर यज्ञ कर रहे हैं और देवता के भीतर बैठकर यज्ञ ग्रहण कर रहे हैं। हम जो अपने लिए कर्म करते हैं, उसके कर्ता-भोक्ता भी ईश्वर हैं तथा दूसरों के लिए जो कुछ करते हैं, उसके कर्ता-भोक्ता भी ईश्वर ही हैं। श्रीरामकृष्णदेव ने इसी को 'शिव-भाव से जीव-सेवा' कहकर पुकारा है।

(२) सर्वलोकमहेश्वरम्—ईश्वर सभी लोकों के महेश्वर हैं। जिन्हें मैं 'अपना' ईश्वर मानता हूँ, वे ही 'सबके' नियन्ता परमेश्वर हैं। अलग-अलग ब्रह्माण्डों

के अलग-अलग ईश्वर का भी नियमन करनेवाले वे महेश्वर हैं। 'मन्नाथ जगन्नाथ'––मेरे नाथ ही जगन्नाथ हैं––भक्त का ऐसा भाव होना चाहिए।

(३) सुहृदं सर्वभूतानाम्––वे सबके सुहृद् हैं। आचार्य शंकर के शब्दों में सुहृद् वह है, जो 'प्रत्युपकार-निरपेक्षतया उपकारिणम्'––प्रत्युपकार न चाहकर उपकार करता है। ईश्वर इसी प्रकार सबका उपकार करनेवाले हैं, बदले में वे जीव से कुछ नहीं चाहते। सर्वलोकमहेश्वर कहने से ऐश्वर्य का बोध होता है और जीव को उनके समीप जाने में संकोच हो सकता है। पर उन्हें सुहृद् बतलाकर ऐश्वर्य की दीवाल तोड़ दी जा रही है, दूरी समाप्त कर दी जा रही है और यह बोध कराया जा रहा है कि वे नितान्त अपने हैं और उनका दरबार सबके लिए बेरोकटोक खुला है।

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जब भक्त मुझे तत्त्व से ऐसा जान लेता है कि मैं ही उसकी समस्त क्रियाओं का कर्ता और भोक्ता हूँ, समस्त लोकों के ईश्वर का भी ईश्वर हूँ तथा साथ ही उसका सुहृद् हूँ, तो वह शान्ति को प्राप्त हो जाता है, जोकि मानव-जीवन का उद्देश्य है।

इस प्रकार यह 'कर्मसंन्यासयोग' नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा होता है।

श्रीरामकृष्ण-महिमा (१६)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर के संचालक हैं।—स०)

पाठक—अवतार अथवा साकारवाद के सम्बन्ध में कई लोग आपत्ति करते हैं और कहते हैं कि जो अनन्त और अखण्ड है, वह कभी सीमित तथा खण्डयुक्त नहीं हो सकता, अतएव अवतार में अथवा किसी मूर्तिविशेष में उस अनन्त अखण्ड का आरोप करना भ्रान्तिपूर्ण है।

भक्त—जो लोग ऐसी बात कहते हैं, उनके मस्तिष्क में अनन्त की धारणा का आभास मात्र भी नहीं है। अनन्त का अर्थ ही उन्हें ज्ञात नहीं है। वे लोग भगवान् को जो अनन्त की उपाधि से विभूषित करते हैं, वह केवल शब्द मात्र है, उसके पीछे कोई अनुभूति नहीं है। मेरा कथन यह है कि जो अनन्त है, वह सभी प्रकार से और सभी अवस्थाओं में अनन्त है—आकार में, रूप में, भाव में, रस में, गन्ध में, शब्द में, स्पर्श में—सभी में वह अनन्त है। वह खण्ड और अखण्ड दोनों ही है। जो अनन्त है, वह चाहे जिस रूप में अथवा जिस सीमाविशिष्ट आकार में परिणत क्यों न हो, उसका अनन्तत्व सभी अवस्थाओं में बना रहता है। वह अनन्त के रूप में जैसे अनन्त है, सीमायुक्त खण्ड के रूप में भी वैसे ही अनन्त है। इसकी

उपमा गंगाजल से दी जा सकती है। हिमालय से लेकर बंगसागर तक बहते हुए भागीरथी के सारे जल की जो पावनकारी महिमा है, वही पावन महिमा भागीरथी के एक जलकण की भी है जो चाहे जहाँ कहीं का हो। आकार में सीमित होने पर भी उसमें भगवान् की अनन्तता, अखण्डता तथा सर्वशक्तिमत्ता में कोई कमी नहीं रह जाती। जो जगज्जननी विश्ववासिनी हैं, वे ही फिर बिन्दुवासिनी हैं। विश्ववासिनी अवस्था में वे जैसी हैं, बिन्दुवासिनी अवस्था में भी ठीक वैसी ही हैं। लीलामयी कभी दिगम्बरा हैं तो कभी वस्त्रधारिणी हैं। सभी अवस्थाओं में वे ही हैं। तुम तो थियेटर के अभिनेता हो। तुम चाहे जो भी वेश क्यों न धारण करो, तुम्हारा निजत्व सभी वेशों में समान रूप से विद्यमान रहता है। यह सब प्रत्यक्ष दर्शन के द्वारा भक्तों और साधकों की उपलब्धि की वस्तु है। यह किताबी ज्ञान की वस्तु नहीं और न ही तर्क या विचार की वस्तु है।

जो अनन्त अथवा अखण्ड है, वह सीमित अथवा खण्डयुक्त नहीं हो सकता—ऐसा कहना उसके अनन्तत्व को बाधित करना होगा। अनन्त में यदि सीमित होने की शक्ति न रहे तो फिर उसका अनन्तत्व कहाँ रहा? वह केवल अनन्त है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं—यह कहना उसके अनन्तत्व को बाधित करना हुआ; साकार-उपासक अपनी साकार-उपासना द्वारा उसे सीमाबद्ध नहीं करता है।

रामप्रसाद ने अपने गीत में कहा है—

रामप्रसाद कहे मातृभाव से पूजा करूँ मैं जिसकी।
समझ बूझ मन फोड़ूँ क्या मैं भरे चौक में हाँड़ी॥

उनका और एक गीत है—

कैसी है काली कौन बताये,
षट्दर्शन उसे जान न पाये।
मूलाधार सहस्रार में, योगी सदा ध्यान लगाये।
कमलवन में हंस के संग हंसी रूप में रास रचाये॥
आत्माराम की आत्मा काली, रामप्रेयसी सीता जैसी वे।
काली घट घट में विराजे, इच्छामयी जैसा मन भाये॥
प्रसविनी ब्रह्माण्ड की वह प्रकाण्डता उसकी समझ न आये।
समझे मेरा मन प्राण न समझे वामन हो शशि धरना चाहे॥

और एक गाना है—

खेल यह सब उस स्त्री का,
गुप्त भाव से करती लीला।
लगा सगुन अगुन में झगड़ा,
ढेले से वह फोड़े ढेला।
सब कामों में समान राजी,
होवे रुष्ट काज की बेला।
रामप्रसाद कहे बैठा रह तू, भवसागर में डालके बेड़ा,
ज्वार हुआ तो उठ जाना तू जाना बैठ भाटे की बेला।

रामप्रसाद ने जिस काली को साढ़े तीन हाथ के एक सीमित आकार में देखा था, उसी काली को फिर ब्रह्ममयी के रूप में भी देखा था। जो जगद्वरेण्य व्यास पुराणों के रचयिता हैं, वे ही वेदान्त के भी लेखक हैं। व्यास-विरचित वेदान्त के भाष्यकार शंकर और रामानुज हैं। बिना जन्म-जन्मान्तर की साधना और भगवत्कृपा के जीव व्यास-प्रणीत इन ग्रन्थों की धारणा नहीं कर सकता।

जिस प्रकार किसी व्यक्ति के बारे में राय देने से पहले उसका विशेष परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक

होता है, उसी प्रकार जनसाधारण के बीच ईश्वर-तत्त्व का विवेचन करने से पूर्व ईश्वर-लाभ होना आवश्यक है। जीवों को ईश्वरोपलब्धि होने पर उनमें से कोई कोई कुछ बोल नहीं पाते, पर अन्य दूसरे जितने दिन जीवित रहते हैं ईश्वरीय प्रसंग को लेकर सत्संग में जीवन बिताते हैं। कोई भी बिना ईश्वर का दर्शन पाये, बिना ईश्वर को प्राप्त किये तथा बिना ईश्वर की आज्ञा पाये ईश्वर के सम्बन्ध में कोई राय देने का अधिकारी नहीं हो सकता। जो साकार-उपासना के विरोधी हैं, वे किसी भी भाव के उपासक अथवा साधक नहीं हो सकते। जो ठीक ठीक उपासक हैं, वे चाहे जिस किसी भाव के क्यों न हों, किसी अन्य उपासक की निन्दा नहीं करेंगे। इसका कारण यह है कि वे अच्छी तरह जानते हैं और समझते हैं कि सभी लोग अलग अलग भावों और पद्धतियों से उसी एक की ही उपासना कर रहे हैं। दूसरा कारण यह है कि जो ठीक ठीक उपासक हैं, वे एकचित्त हो अपने ही भाव में मग्न रहते हैं। उन्हें दूसरी ओर देखने का समय ही नहीं मिलता। समुद्र के तट पर ही समुद्र की जितनी आवाज सुनाई पड़ती है। समुद्र के भीतर प्रवेश करने पर फिर कोई आवाज नहीं रह जाती। उसी प्रकार ईश्वर के मार्ग में बाहर ही सारा कोलाहल रहता है; वहाँ प्रवेश करने पर फिर कोई हलचल नहीं। ठाकुर रामकृष्णदेव के मतानुसार साकार-उपासना का प्रतिवाद करना अपनी घोर अज्ञानता का परिचय देना है। उनका अवतार ईश्वरावलम्बियों के आपसी विवादों को दूर करने के लिए हुआ था, यह उनकी लीला के प्रत्येक क्षेत्र तथा प्रत्येक घटना में स्पष्ट अक्षरों में अंकित है।

कूट तर्क-बुद्धि और विचार-बुद्धि के द्वारा भगवान् के साकारवाद का विरोध करना व्यर्थ है। इस कूटबुद्धि का दूसरा नाम संशय की चरमावस्था है। सरल चित्तवाले व्यक्तियों के भीतर यदि ऐसा सन्देह जागे, तो गुरु-चरणों में शरण लेना श्रेयस्कर है। गुरु के वचनों में विश्वास ही इन सन्देहरूपी विष-वृक्षों के लिए कुल्हाड़ी सदृश है। गुरु के चरणों में अनुरक्त, पूर्णकाम भक्तजन इस सन्देह को भवव्याधि कहते हैं। फिर बहुतों का कथन है कि यह सन्देह ही वह घोर अन्धकार है, जो भगवान् को जीव की आँखों की ओट में छिपाकर रखता है। जिस हृदय-दर्पण में भगवान् का रूप प्रतिबिम्बित होता है, उसे वह सन्देह मलिन बना देता है। सद्गुरु के संसर्ग से तथा उनकी कृपा के फलस्वरूप यह सन्देह सूर्योदय से अन्धकार के नष्ट होने की भाँति दूर हो जाता है। ठाकुर श्रीरामकृष्ण के समीप यह मैंने प्रत्यक्ष देखा है।

ठाकुर के पास समय समय पर निकट और सुदूर प्रान्तों के कितने ही दिग्विजयी शास्त्रज्ञ पण्डितों का आना-जाना होता था। शुरू में अपने विद्या के अहंकार में चूर हो वे पण्डितगण अपने कठिन वाक्य-विन्यासों द्वारा ईश्वर-तत्त्व के सम्बन्ध में ठाकुर के साथ ऐसा तर्क-वितर्क और वाद-प्रतिवाद करते कि ठाकुर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते और उन्हें क्या बोलें क्या नहीं, कुछ सूझ न पड़ता। लोगों को लगता कि ठाकुर हार गये। ऐसे समय में ठाकुर क्या करते थे, जानते हो? वे कहते, "मैं शौच को जाऊँगा।" जहाँ एक बार उनके मुँह से निकल गया कि जाऊँगा तो अब रुकना मुश्किल। जैसे ही कहा कि तुरन्त उठ खड़े हुए। भक्त लोग प्रभु का स्वभाव बहुत-कुछ

समझते थे। ठाकुर को उठते देख कोई व्यक्ति लोटा लेकर ठाकुर के पीछे पीछे चलने लगता।

पाठक—ठाकुर हार गये, यह कैसी बात है ?

भक्त—तुम इतने चंचल क्यों होते हो ? पहले सारी बातें तो सुनो। ठाकुर के हारने का एक विशेष कारण है। विद्याभिमानियों की कामना ही यह होती है कि शास्त्रार्थ में विजय-लाभ कर प्रशंसा अर्जित करें। उनके अध्ययन का उद्देश्य ही यही होता है। ठाकुर की प्रसिद्धि सुन ये उनके पास यही वासना लेकर आते। ठाकुर तो कल्पतरु हैं। जिसकी जो वासना होती, वे उसे पूर्ण करते। निरभिमानी को अति सम्मान देनेवाले ठाकुर-जैसे दाता की बातें और कहीं सुनीं नहीं।

इसके बाद रास्ता चलते चलते ही ठाकुर को भावावेश हो आता। वे ठीक शराबी जैसे चलने लगते और बड़बड़ाने लगते। कभी तो कुछ समझ में आता और कभी नहीं। इस प्रकार वे जहाँ बैठना होता बैठकर फिर तेजी से लौट आते और उस तार्किक को छूकर कहते, "क्यों जी, तुम क्या कह रहे थे, बोलो तो।" यह छू देना ही मानो उन करुणानिधि की अपार-करुणा होती। प्रभु के स्पर्श से उन तार्किक पण्डित लोगों की अवस्था कैसी होती थी, जानते हो ? साँप पकड़ने की विद्या में निष्णात सँपेरा जब हाथ में छड़ी लेकर फन उठाये हुए साँप को पकड़ता है तो उस समय साँप की जो अवस्था होती है, पण्डितों की वैसी ही दशा होती। न तो पहले जैसा आक्रामक रूप रहता न लम्बे-चौड़े श्लोकों की फुफकार होती, फन उठाया वह सर्प मानो केंचुआ हो जाता। ठाकुर इसी प्रकार कुछ देर तक अपलक दृष्टि से उनकी ओर ताकते। कोई

घुटने टेक हाथ जोड़कर स्तुति करता तो कोई कहता, 'देहि मे चैतन्यम्' और कोई ठाकुर के चरणों के नीचे लोट-पोट कर रो-रोकर वहाँ की माटी भिगो देता।

यहाँ मैं एक बात कहना चाहूँगा। वह यह कि सभी विषयों का एक एक चित्र होता है। जिस घटना की बात तुमने सुनी, उसका चित्र एक बार आँखें बन्द करके देखो तो सही। यदि वह चित्र तुम देख पाओ तो तुम शीघ्र ही समझ जाओगे कि ठाकुर की कृपा से किस प्रकार क्षण मात्र में महाविरोधिनी भयानक अविद्या माया का अन्धकार-आवरण दूर हो जाता था। जन्म-जन्मान्तर की कठोर तपस्या से भी जो वस्तु जीवन में प्राप्त नहीं होती, उसकी अपेक्षा भी दुर्लभ वस्तु प्रभु के दर्शन और स्पर्श से प्राप्त हो जाती। ठाकुर की करुणा की कोई सीमा न थी। संशयरूपी अन्धकार के कारण ही पण्डितगण कुछ देर पहले तक अहंकारजनित विद्याभिमान के कारण सिर उठाये हुए थे। प्रभु के स्पर्श से वह मस्तक भूमि पर लुण्ठित हुआ। इसका तात्पर्य यह कि तर्क करते समय जो तत्त्व तार्किकों की आँखों में अप्रत्यक्ष था, ठाकुर के स्पर्श से वही दिवालोक में रखी वस्तु की भाँति प्रत्यक्ष हो उठा। दया के सागर कल्पतरु भगवान् ने चैतन्य-दान के द्वारा अन्धकार को दूर कर सत्य तत्त्व को प्रत्यक्ष करने की शक्ति प्रदान कर दी।

और एक बात है। यह संशय ही जगत् के सभी जीवों को आँखों में पट्टी बँधे कोल्हू के बैल की भाँति संसाररूपी कर्मक्षेत्र में चक्कर लगवा रहा है। साधना के द्वारा यह अन्धकार दूर अवश्य होता है, पर वह होता है जन्म-जन्म की कठोर साधना के फलस्वरूप। और इस ओर रामकृष्ण-

देव की महिमा देखो। साधना के द्वारा तम का नाश और प्रभु की कृपा से तम का नाश इन दोनों में कितना अन्तर है जानते हो? जैसे पैदल चलकर भिक्षावलम्बन द्वारा वृन्दावन जाना तथा भोजन, मार्गव्यय आदि के साथ टिकट प्राप्त कर रेल से वृन्दावन जाना। एक दूसरी उपमा है—कुआँ खोदकर पानी पीना और स्वच्छ-सलिला पुष्करिणी से पानी पीना। जिनके स्पर्शमात्र से जीव को चैतन्य-लाभ होता है वे कौन हैं यह बात क्या जीव की बुद्धि जान सकती है? भाई, एक बार मन-प्राण भरकर 'जय रामकृष्ण' बोलो। जीव भले शास्त्रज्ञ हो, पर बिना चैतन्य-लाभ के वह पशु से तनिक ही ऊँचा है। अचतन्य में चैतन्य का संचार करना तथा पत्थर में प्राण-संचार करना—इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। राम के रूप में प्रभु ने केवल एक ही पाषाणी को मानवी बनाया था, इस बार उन्होंने रामकृष्ण-रूप में दयार्द्र हो सैकड़ों पाषाण हृदयवालों को चैतन्यवान् बनाकर अपार महिमा प्रदर्शित की। चैतन्य होने से जीव की अवस्था में कैसा परिवर्तन आता है, उसे मुँह से नहीं बोला जा सकता। इसीलिए मैं तुमसे बार बार कहता हूँ कि रामकृष्ण की लीला कहने और सुनने की नहीं, बस देखने की वस्तु है।

पाठक—चैतन्य जब होता है तो किस प्रकार होता है, यह जितना आपके द्वारा सम्भव हो, कहिए।

भक्त—चैतन्य लाभ करना और महामाया की कृपा लाभ करना एक ही बात है। देखो, जिसने कभी थियेटर नहीं देखा, जो गाँव-गँवई का खेतिहर, सीधासादा आदमी है, वह यदि तुमसे पूछे, "अजी, थियेटर में क्या दिखाया जाता है, वहाँ क्या होता है?" तब तुम उसको

क्या बतलाओगे अथवा कैसे समझाओगे ? यहाँ भी वही बात है । यह सृष्टि माँ का नाट्यालय है । इस जगत् के भीतर और एक जगत् है । इस जगत् का नाम बाह्य जगत् है और भीतर जो जगत् है उसका नाम है अन्तर्जगत् । बाह्यजगत् मानो अन्तर्जगत् के सूचीपत्र के समान है । माँ लीलामयी हैं—इन दो जगतों में वे जो लीला करती हैं, उसका नाम है 'अवाक्-लीला' । जिस प्रकार तुम लोगों के थियेटर में प्रवेश पाने के लिए टिकट अथवा फ्री पास की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् में प्रवेश पाने के लिए एकमात्र उपाय है माँ की प्रसन्नता अथवा चैतन्य-लाभ । चैतन्य-लाभ होने से इस बहिर्जगत् को अलग प्रकार से देखोगे । भले ही अचैतन्य अवस्था का बाह्य जगत् और चैतन्य अवस्था का बाह्य जगत् एक ही है, फिर भी चैतन्य अवस्था में तुम देखोगे कि जगत् का पहले का स्वरूप, रंग और रूप एकदम दूसरे प्रकार का हो गया है । चैतन्यावस्था में आँखें खोलकर देखना नहीं होता, आँखें बन्द करके देखना होता है । प्रकाश और अन्धकार तब एक जैसे लगते हैं । चमड़े की ये दोनों आँखें तब केवल नाममात्र की आँखें होती हैं । तब देखने के लिए और एक आँख की जरूरत पड़ती है । उस आँख से 'अवाक्-लीला' को देखा जा सकता है । 'अवाक्-लीला' के दो-एक खेल कहता हूँ सुनो—तुम साढ़े तीन हाथ के हाड़-मांस से बने मनुष्य मात्र हो । तुम जानते हो कि यह शरीर ही 'मैं' है; पर बात तो ऐसी नहीं है—तुम शरीर से भिन्न हो अर्थात् शरीर और तुम अलग अलग हो । इस शरीर के भीतर एक मन है । यह मन दिनरात संकल्प -विकल्प करता

है। वह एक मन ही कभी दो होकर आपस में झगड़ा करता है। और इस झगड़े को निपटाने के लिए एक दूसरा इस विवाद-क्षेत्र में प्रवेश करता है। इनके अतिरिक्त इस देह में बुद्धि, अहंकार, जीवात्मा, परमात्मा, काम-क्रोधादि छः रिपु भी हैं, जो कार्यरत हैं। इन सभी वस्तुओं के बारे में मैंने बहुत पहले तुमसे चर्चा की थी। यह सब 'अवाक्-लीला' शरीर में दिनरात विद्यमान है। वह कितने ही खेल दिखाती है, पर मनुष्य कुछ भी नहीं जान पाता।

इनके अतिरिक्त और भी कितनी ही अकथनीय वस्तुएँ शरीर के भीतर विद्यमान हैं—उनके बारे में क्या तुम कुछ समझ पाते हो अथवा उन्हें देख पाते हो ? कठपुतलीवाला जिस प्रकार नाना प्रकार के कौशल द्वारा कठपुतलियों को नचाता है, माँ रंगमयी उसी प्रकार जीव के शरीर के भीतर नाना प्रकार की वस्तुएँ रखकर समस्त देहधारियों को अपनी इच्छानुसार खेल खिला रही हैं। देहधारियों के भीतर रहकर वे सृष्टि का सारा खेल खेलती हैं, किन्तु तारीफ की बात यह है कि अपने अभिनय-कौशल द्वारा वे देहधारियों को अपने बारे में कुछ भी जानने नहीं देतीं। पर जिस आधार पर माँ प्रसन्न होकर चैतन्य प्रदान करती हैं, वह यह सारा खेल देख पाता है।

'अवाक्-लीला' यह है कि इस सृष्टि की प्रत्येक देह में एक-एक 'मैं' विद्यमान है और अहंकार के कारण प्रत्येक ही 'मैं' 'मैं' की आवाज से आकाश फाड़े जा रहा है। किन्तु वास्तव में इतने लाखों-करोड़ों 'मैं' नहीं हैं। इन सब 'मैं' के स्थान में जो हैं, उन्हें माँ की कृपा पाये

बिना देख पाना सम्भव नहीं है ।

व्यक्ति कहता है कि उसके बहुत से परिचित हैं अर्थात् वह उन्हें पहचानता है, किन्तु वास्तव में वह न किसी को जानता है और न पहचानता है । यहाँ तक कि वह अपनी माँ, स्त्री, परिवार आदि किसी को नहीं पहचानता—वह अपने आपको भी नहीं जानता । वह नहीं जानता कि वह कौन है, कहाँ से आया है, कहाँ रहता है, कहाँ जाएगा और क्या करेगा । माँ लीलामयी की कृपा के फलस्वरूप प्राप्त चैतन्य के बिना उसके लिए जानने-पहचानने का कोई उपाय नहीं ।

इस जीव-जगत् में तुम जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द आदि के लाखों-करोड़ों प्रकार देखते हो, वे मानो एक ही रसोई की भट्ठी में बने हैं । इनके बीच में कोई छोटा-बड़ा नहीं, कोई अच्छा-बुरा नहीं । विशाल सृष्टि के भीतर जो है, एक-एक शरीर का आधार लेकर भी वही है । सिवाय रूप और गुण के परिवर्तन के किसी का नाश नहीं है । यह सब चैतन्यवान् के सिवाय दूसरा नहीं देख सकता ।

अब समझ लो कि चैतन्य क्या है । यह देव-दुर्लभ चैतन्य रामकृष्णदेव के सामान्य करुणा-कटाक्ष से जीव के शरीर में प्रकट होता था । यह चैतन्य ही भवसागर को पार करानेवाली एकमात्र नौका है तथा उसके एक-मात्र कर्णधार हैं श्रीरामकृष्णदेव ।

ठाकुर अन्धे जीवों को अपनी इस अपार करुणा और महाशक्ति का परिचय देने के लिए समय समय पर भावावेश में कहते—विषधर साँप के पकड़ने पर मनुष्य ज्यादा चीख-पुकार नहीं कर पाता—एक, दो या बहुत

हुआ तो तीन बार में ही टें बोल जाता है। इसका अर्थ क्या है, जानते हो ? कुछ साँपों के मुँह में अत्यन्त तेज विष होता ।है, जैसे---नाग, करायत, डोमी आदि। फिर कई साँप ऐसे होते हैं, जिनमें विष नहीं होता, जैसे---असढ़िया, मटिया आदि। जिन साँपों में विष नहीं होता, वे यदि मेंढक को पकड़ें तो मेंढक बहुत देर तक टर्र-टर्र करता रहता है, पर यदि कोई विषधर साँप मेंढक को पकड़े तो वह अधिक देर नहीं टर्रा पाता, क्योंकि विष के प्रभाव से साँप उसे शीघ्र निगल जाता है।

इस उपमा के द्वारा ठाकुर स्वयं का परिचय देते हुए कहते थे, "मैं ऐसी जाति का हूँ कि जिसे मैं छूऊँआ उसे अधिक तर्क-वितर्क नहीं करना होगा। उसका काम शीघ्र ही पूरा हो जाएगा।"

ठाकुर फिर कभी कभी कहते थे कि जब हड्डा (हरे रंग का बड़ा भुनगा) तिलचट्टे को पकड़ता है, तो तिल-चट्टे का रंग हड्डे के रंग का हो जाता है। इसका तात्पर्य यह कि मैं (ठाकुर) जिसे पकड़ूंगा, उसका रंग मेरे-जैसा हो जाएगा। उन्होंने गिरीशबाबू से कहा था---अभी खा-पीकर मौज कर ले, इसके बाद फिर नहीं होगा।

(क्रमशः)

○

रामकृष्ण मिशन की १९८५-८६ की रिपोर्ट

रामकृष्ण मिशन की ७७वीं वार्षिक सभा बेलुड़ मठ में २८ दिसम्बर १९८६ को अपराह्न ३-३० बजे आयोजित हुई। रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी गम्भीरानन्द ने सभाध्यक्ष का स्थान ग्रहण किया। सभा में कार्यकारिणी ने १९८५-८६ का जो प्रतिवेदन रखा, वह नीचे दिया जा रहा है।

आलोच्य वर्ष में मिशन ने 'राहत एवं पुनर्वास' मद में बाढ़, तूफान आदि से विपन्न असहायों की सेवा में १४ लाख ७६५ रु. खर्च किये। इसके अलावा, उदार एवं परोपकारी व्यक्तियों से दान में मिली ११ लाख ८ हजार ५२ रु. की विविध राहत सामग्री पीड़ित एवं जरूरत-मन्द लोगों में बाँटी गयी।

रामकृष्ण मठ ने भी अपने राहत-कार्यों में ३,६०,४८६ रु. व्यय किये।

इस अवधि में मिशन और मठ की कई शाखाओं ने 'पल्ली मंगल' (एकीकृत ग्रामीण विकास) कार्यक्रम अपने हाथ में लिये, जिसके अन्तर्गत कृषि-आर्थिक सेवा, कुटीर उद्योग, मत्स्य-पालन, स्वास्थ्य-सेवा तथा शिक्षा-सेवा आदि के कार्य मुख्य थे। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अकेले मुख्यालय ने ही ७,७४,९४३ रु. व्यय किये।

आलोच्य वर्ष में जो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हुईं, उनमें रामकृष्ण मिशन सारदापीठ, बेलुड़मठ की दो गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेख-नीय हैं—एक तो श्रीरामकृष्ण के जीवन और सन्देश पर 'रामकृष्ण दर्शन' नाम से एक म्यूजियम शुरू किया गया और दूसरे, युवकों को ग्रामीण विकास कार्य का प्रशिक्षण देने हेतु 'समाज सेवक शिक्षण मन्दिर' प्रारम्भ किया गया। रायपुर केन्द्र ने मध्यप्रदेश के बस्तर जिले के अबुझमाड़ क्षेत्र में बहुत बड़े पैमाने पर आदिवासी कल्याण

कार्य हाथ में लिया है। इस प्रकल्प के अन्तर्गत शिक्षा, चिकित्सा, व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि सभी की निःशुल्क व्यवस्था है।

अगरतला (त्रिपुरा) में मिशन की एक शाखा खोली गयी। ईटानगर (अरुणाचल) और राजमहेन्द्री (आन्ध्र) शाखाओं द्वारा चल-चिकित्सालय शुरू किया गया।

हर वर्ष की भाँति पश्चिम बंगाल में इस वर्ष भी मिशन की शैक्षणिक संस्थाओं के परीक्षाफल अति उत्तम रहे। १९८५ की माध्यमिक परीक्षा में हमारे विद्यार्थियों ने २रा, ४था, ६ठा, ८वाँ, १०वाँ, ११वाँ, १३ वाँ, १५ वाँ, १६वाँ और २०वाँ स्थान प्राप्त किया तथा उच्चतर माध्यमिक परीक्षा में ३रा, ४था, ७वाँ, ९वाँ और १३वाँ स्थान।

इसी अवधि में रामकृष्ण मठ की गतिविधियों में दो उल्लेखनीय बातें हुईं—एक तो काँथी (पश्चिम बंगाल) में श्रीरामकृष्णदेव की संगमर्मर मूर्ति की प्रतिष्ठा तथा दूसरी, राजकोट केन्द्र में ५,००० लीटर क्षमता की सौर्य जलप्रणाली की व्यवस्था।

मिशन ने अपने ८ अस्पताल, ६६ औषधालय तथा १५ चल-चिकित्सालयों के माध्यम से प्रशंसनीय सेवा की। इनमें ३२ औषधालयों और सभी चल-चिकित्सालयों के हितग्राही मुख्यतः गाँवों और आदिवासी क्षेत्रों के लोग थे। सब मिलाकर ४२,८७,३८८ रोगियों को इन चिकित्सा-सेवाओं का लाभ मिला।

मठ ने अपने ५ अस्पताल, १७ औषधालय और ४ चल-चिकित्सालयों के माध्यम से ७,४१,१२१ रोगियों की चिकित्सा की। इनमें से ३ अस्पताल, ८ औषधालय और ३ चल-चिकित्सालय ग्रामीण और वनवासी क्षेत्रों में काम कर रहे हैं, जहाँ चिकित्सा-सुविधाएँ नगण्य हैं।

१९८५-८६ में शिक्षा के क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन और रामकृष्ण मठ ने अपना नाम बरकरार रखा। प्रवेश के लिए भीड़ बढ़ोतरी पर रही। मिशन की ९६६ शैक्षणिक संस्थाओं में, १,१८,९९९ छात्र-छात्रा थे, जबकि मठ की ९२ ऐसी संस्थाओं में उनकी संख्या ९,६७६ थी। इनमें से ८६३ संस्थाएँ, जिनमें ४२८ औपचारिकेतर शिक्षा-संस्थाएँ हैं, ग्रामीण एवं वनवासी क्षेत्रों में हैं।

हमारे कई केन्द्रों ने उत्साह और उल्लासपूर्वक राष्ट्रीय युवा दिवस मनाया। इन सब उत्सवों का समापन बेलुड़ मठ में आयोजित एक विशाल युवा सम्मेलन के रूप में हुआ, जिसमें लगभग ११,००० प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

विदेशों में स्थित मठ और मिशन के हमारे अन्य केन्द्र हर वर्ष की भाँति शैक्षिक, चिकित्सा-सम्बन्धी, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक गतिविधियों का संचालन करते रहे।

बेलुड़ के मुख्यालय के अलावा, वर्षान्त में भारत एवं अन्य देशों में मिशन और मठ की क्रमश: ७५ एवं ७० शाखाएँ कार्यरत थीं।

स्वामी हिरण्मयानन्द
महासचिव

○